हिन्दी नाटक साहित्य

का

इतिहास

लेखक

श्री सोमनाथ गुप्त एम० ए०, पी०-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, जसवन्त कालेज, जोधपुर

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालंधर और इलाहाबाद

तीसरा संस्करण] १९५१ [मूल्य ४)

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक आगरा यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत मेरे थीसिस का रूपान्तर है। इस विषय का अध्ययन मैंने आगरा के सेंट जान कालेज में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री हरिहरनाथ जी टंडन एम० ए०, एल-एल० बी० की देख-रेख में किया है। किसी नई पुस्तक को पाठकों के सामने रखने के लिए उसके लेखक को अपनी सफ़ाई देनी आवश्यक होती है। मेरा कथन इस सम्बन्ध में केवल इतना ही है कि मैंने विषय का यथासंभव गंभीर और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अपने अनुसंधान के समय मुझे अनेक ऐसे विषय मिले हैं जिन पर मेरे पूर्ववर्त्ती विद्वान् लेखकों ने या तो प्रकाश ही नहीं डाला और या वे चलताऊ ढंग से उनका विवरण देकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो गए हैं। मैंने यह उचित नहीं समझा। उदाहरण के लिए रंगमंचीय नाटक साहित्य, उसके विकास और तत्सम्बन्धी सामग्री का समावेश अपने इतिहासों में किसी लेखक ने नहीं किया। श्री ब्रजरत्नदास जी ने अपनी पुस्तक के अन्त में इस विषय को छू कर छोड़ दिया है। इसी प्रकार भारतेन्दु युग के नाटककारों का विस्तृत अध्ययन भी किसी ने प्रस्तुत नहीं किया। प्रस्तुत पुस्तक में एक सम्पूर्ण अध्याय इस सामग्री के ऊपर लिखा गया है। इसी प्रकार प्रसादोत्तर नाटक साहित्य एवं उसको प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला है। इधर उधर के बिखरे लेखों से यह कार्य सिद्ध नहीं माना जा सकता। प्रसाद के नाटक साहित्य का अध्ययन देने की अपेक्षा इस बात पर अधिक ध्यान रखा गया है कि प्रसाद ने अपनी पूर्ववर्तिनी धाराओं में क्या परिवर्तन किया और उसका क्या साहित्यिक मूल्य है? उनके द्वारा रचित साहित्य जिन प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने में सफल हुआ है, वह उनकी मौलिक देन है।

लेखक सब निर्णयों में मौलिकता का दावा नहीं कर सकता। उसका प्रयास यही है कि वैज्ञानिक ढंग से उपलब्ध सामग्री की परीक्षा की जाय और इस प्रकार निकाले गए परिणामों पर नाटक साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया जाय जिसके आधार पर पाठक प्रत्येक काल के नाटक और नाटककारों के विषय एवं रचनाओं से भी परिचित हो जायँ और साथ ही साथ युग युगान्तर की उस विचार-धारा का प्रतिबिम्ब भी देख सकें जो अपने अपने काल में वर्तमान थी।

इतिहास केवल कुछ पुस्तकों अथवा लेखकों की क्रमिक सूचना मात्र नहीं है और न वह पुस्तकों का सार-संग्रह है। इतिहास हमारी बाधक और प्रेषक शक्तियों के प्रवाह को हमारे सामने रखता है और जीवन-धारा को नवीन रूपों से आप्लावित करता है। नाटक साहित्य जीवन की अनेकरूपता को प्रदर्शित करने का अपूर्व माध्यम है। इसी लिए वह दृश्य-काव्य है।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय नाटक साहित्य का ऐसा ही अध्ययन प्रस्तुत करना है। लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है और कहाँ तक विफलता—इसका निर्णय विज्ञ पाठकों पर है।

एक बात और—श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी (शान्तिनिकेतन) एवं श्री डा० जगन्नाथ शर्मा (हिन्दू विश्वविद्यालय) ने थीसिस की परीक्षा के समय लेखक को जो सुझाव दिए हैं उनके लिए वह उनका ऋणी है। यथा-स्थान उन सुझावों से लाभ उठाया गया है और उचित परिवर्तन कर दिए गए हैं। पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा के परामर्शों के लिए लेखक चिर अभारी है। वास्तव में जो कुछ है उन्हीं के प्रोत्साहन और कृपा का फल है। जिन पुस्तकों से इसके तैयार करने में सहायता ली गई है उन सब के रचयिताओं को भी लेखक हृदय से धन्यवाद देता है।

१६-६-४८ सोमनाथ

निर्देशिका

अध्याय ३. (भारतेन्दु के समकालीन और हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में उनका भाग)

[सन् १८६७—१९०४ ई०]

अध्याय ६. (प्रसाद का आगमन उनकी रचनायें तथा समकालीन अन्य नाटककार)

(सन् १९१५—३३)

अध्याय ७. (प्रसादोत्तर नाटक साहित्य का विकास)

(सन् १९३३—४२)

परिशिष्ट

अध्याय १

हिन्दी नाटक साहित्य का आरंभ

(सन् १६४३—१८६३ ई०)

'नाटक' सम्बन्धी दृष्टिकोण

साहित्य हमारे सांस्कृतिक जीवन की रक्षा का एक साधन है। उसी के द्वारा युग-प्रवृत्तियों की माँग और उनकी पूर्ति के रूपों की सर्वांगीण रक्षा होती है। साहित्य ही वर्तमान और अतीत के सम्बन्ध की आवश्यक कड़ी है और भविष्य के रूप को चित्रित करने का महत्त्व-पूर्ण उपकरण है। साहित्य का विकास जीवन की विकासिता का चिह्न है और उसकी विविधरूपता जीवन की अनेकरूपता का प्रमाण है। अतएव साहित्य और उसको सम्पन्न करने और रखने वाले तत्त्वों की अवहेलना करना संस्कृति और विकास की मर्यादा में विघ्न डालना है।

'नाटक' भी साहित्य ही का एक रूप है। संस्कृत साहित्य में 'नाटक' को 'रूपक' का भेद माना गया है। परन्तु हिन्दी में 'रूपक' का पर्याय 'नाटक' बन गया है और इसी अर्थ में प्रस्तुत पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति 'नाटक' की भी अपनी विशेषतायें हैं। भरत मुनि ने इसे 'नाट्य वेद' की उपाधि से विभूषित किया है और ब्रह्मा को उसका निर्माता माना है। अपने नाट्यशास्त्र के शास्त्रोत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय में मुनिवर ने नाट्य वेद की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए उसके शुभ अशुभ परिणाम का भी उल्लेख किया है और अभिनय के हेतु आवश्यक रंगमंच, रंग-

पीठ और प्रेक्षागृह एवं उसके निर्माण और सजाने के उपकरणों की ओर भी अनेक संकेत किये हैं।

नाटक दृश्य-काव्य है और इसीलिए इसके उपादान भी दो प्रकार के हैं। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे उपकरण हैं जो 'काव्य' के लिए आवश्यक हैं और दूसरी में वे सम्मिलित हैं जिनका समावेश 'अभिनय' की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। साहित्य के 'काव्य' रूप से 'नाटक' को पृथक् करने में 'अभिनय' अंश प्रधान है क्योंकि अन्य अंग और उपांगों का उपयोग तो उसके किसी न किसी रूप में आ ही जाता है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार नाटक में तीन अवयव प्रधान माने गये हैं—वस्तु, पात्र और रस। प्रत्येक का संपूर्ण नाटक में क्या महत्त्व है और किस अंश में वह उसमें विद्यमान रहना चाहिए—इन सब की सूक्ष्मताओं में हमारे नाट्यशास्त्र के आचार्य अत्यन्त सावधानी से गये हैं। इसी प्रकार 'अभिनय' के उपयुक्त तत्त्वों की छानबीन भी उन्होंने पर्याप्त मात्रा में की है। आदर्श नाटक वही है जो इन सभी कलात्मक लक्षणों से समाविष्ट है और ऐसे ही नाटकों से युक्त साहित्य वास्तव में 'नाटक-साहित्य' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य और है। यद्यपि मूल में हमारे हिन्दी साहित्य की समस्त प्रेरणायें संस्कृत की अनुगामिनी हैं परन्तु उनके साथ-साथ अपने नये साथियों के सम्पर्क में रहने के कारण उनके साहित्य के प्रभाव से हम अपने को बचा नहीं सके हैं। विकासवाद की दृष्टि से नई मान्यताओं से छुआछूत का व्यवहार करना उचित भी नहीं होता। हिन्दी के नाटक-साहित्य पर इस प्रकार के प्रभाव स्वतः लक्षित हैं और यथास्थान उनका उल्लेख स्वयं ही हो गया है। अंगरेज़ी साहित्य का प्रभाव इस दिशा में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

आलोच्य काल के नाटकों की आलोचना का आधार प्राचीन संस्कृत सिद्धान्त ही हैं। डा० जगन्नाथ शर्मा ने स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों का अध्ययन इसी 'शास्त्रीय' पद्धति पर प्रकाशित किया है; परन्तु वर्तमान हिन्दी साहित्य में पश्चिमी दृष्टिकोण को काम में लाने की प्रथा भी खूब चल निकली है। वास्तव में दोनों विचार-धारायें अन्त में एक ही परिणाम पर पहुँचती हैं। उनमें जो भेद है वह केवल जीवन के प्रति दृष्टिकोण का भेद है। आधुनिक नाटकों के वर्गीकरण और उनके टेकनीक अथवा कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की जटिलता का कारण भी यही वस्तु है। हम सदा से आदर्शवादी और आशावादी रहे हैं; अतएव इन प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना हमारे नाटकों में स्वाभाविक है। जीवन की दुःखान्तवादिता वर्तमान युग की देन है। हम उस प्रभाव से बच नहीं सके हैं। अतएव यही उचित है कि जीवन के प्रदर्शन-साधन नाटक और उसके साहित्य को हम केवल एक ही दृष्टिकोण से न देख कर उसे युग के वातावरण में देखें और तब कोई परिणाम निकालें। नाटक साहित्य को कसने के लिए यही कसौटी रखी गई है।

प्रस्तुत इतिहास के परिणाम इसी आधार का फल हैं।

हिन्दी नाटकों का आरंभ

आलोच्यकाल में लिखे गये हिन्दी नाटकों के दो रूप इस समय मिलते हैं—साहित्यिक और रंगमंचीय। पहली श्रेणी के नाटक अधिकांश में काव्यत्व से भरपूर हैं और दूसरे वर्ग में रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति पर ध्यान अधिक दिया गया है। आगे चल-कर भी ये दोनों धारायें पृथक्-पृथक् रूप से वेगवती होकर हमारे साहित्य को आप्लावित करती रहीं। अतएव हिन्दी नाटक सहित्य का इतिहास वास्तव में इन्हीं दोनों धाराओं का इतिहास है।

प्रश्न हो सकता है कि रंगमंचीय नाटकों को साहित्य में स्थान क्यों दिया जाय ? आरंभ में ही यह संकेत कर दिया गया है कि नाटक दृश्य-काव्य है और अभिनेय होना उसका आवश्यक लक्षण है। इस दृष्टि से आदर्श कहे जाने वाले नाटक तो वही होंगे जिनमें दोनों गुण वर्तमान हों। परन्तु उपलब्ध साहित्य में यदि नाटक काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है तो अभिनय की दृष्टि से असफल है और यदि अभिनय की दृष्टि से सफल है तो काव्यत्व के अभाव के कारण उच्च कोटि में नहीं आ सकता। ऐसा होते हुए भी रंगमंचीय नाटकों को साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि वे भी नाट्य-सिद्धान्त के एक मुख्य अंश के प्रतिनिधि हैं और रंगमंच सम्बन्धी उपकरणों का विकास उनमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ये नाटक भविष्य में लिखे जाने वाले नाटकों के लिए प्रेरणा स्वरूप हुए हैं और अतीत एवं वर्तमान के विकास-सम्बन्ध की आवश्यक शृंखलायें बन गये हैं।

(अ) साहित्यिक नाटक

नाटक-साहित्य का आरंभ नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ है। *हनुमन्नाटक* तथा *समयसार* नाटक आदि इसी कोटि के हैं। परन्तु कलात्मक दृष्टि से हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम नाटक *प्रबोध-चन्द्रोदय-नाटक*[1] (र० का० लगभग १६४३ ई०) है। यह संस्कृत के *प्रबोध-चन्द्रोदय* नाटक का अनुवाद है। अनुवादक जोधपुर-नरेश स्व० महाराज जसवंतसिंह जी (सन् १६२६—७८ ई०) हैं। अनुवाद में गद्य और पद्य दोनों व्रजभाषा में हैं। मूल से मिलान करने पर पता चलता है कि *प्रबोध-चद्रोदय* नाटक बहुत ही सुन्दर और यथा साध्य अक्षरशः अनुवाद है। नाटक सांकेतिक और अन्योक्ति शैली की रचना है।

१—एक हस्तलिखित प्रति जोधपुर के पुस्तक-प्रकाश में सुरक्षित।

दूसरा नाटक 'आनन्द-रघुनन्दन' है। इसके रचना-काल का पता नहीं चलता परन्तु अनुमान से यह सन् १७०० में लिखा हुआ माना जा सकता है। लेखक रीवाँ-नरेश महाराज विश्वसिंहजू (सन १६६१—१७४० ई०) थे। यह नाटक सर्वप्रथम मौलिक नाटक है और इसके गद्य तथा पद्य की भाषा भी ब्रजभाषा है। इनका लिखा हुआ एक *गीता-रघुनन्दन*[1] नाम का नाटक और है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी की नाटक-परम्परा, निर्माण की दृष्टि से दो रूपों में चली—अनुवादित एवं मौलिक। इन दोनों परम्पराओं में आगे चलकर क्रमशः राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६—९३ ई०) कृत *शकुन्तला* (र० का० सन् १८६१) और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत नहुष (र० का० सन् १८४१) लिखे गये।

इनके प्रधान लक्षण

नाटकीय काव्य में काव्यत्व की प्रधानता है और अनुवादों में सिद्धान्तों के प्रतिपादन अथवा अभिव्यंजना का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वे तो मूल का अन्य भाषा में रूपान्तर मात्र होते हैं। देखने की बात यह होती है कि अनुवादक ने मूल के भाव और विचारों को कहाँ तक अक्षुण्ण बनाये रखा है और मूल के प्रत्येक अंश की कहाँ तक रक्षा करने में कृतकार्य हुआ है। भाषा, भाव, कलात्मकता आदि की पूर्ण और सत्य अभिव्यंजना ही अनुवादक की सफलता और असफलता की द्योतक होती है। इन दोनों नाटकों में अनुवादकों को आशातीत सफलता मिली है। और इसी का परिणाम यह हुआ है कि इन दोनों नाटकों के सफल अनुवाद ने आगे आने वाले अनुवादकों के सामने अनुवाद का एक ऊँचा

१—इसकी हस्तलिखित प्रति वर्त्तमान काशी-नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

माप दंड रखा। दोनों अनुवाद संस्कृत के नाटकों के अनुवाद हैं जो स्वाभाविक ही है क्योंकि हिन्दी के विकास की प्रेरणा का मूल उद्गम संस्कृत और उसके स्वाभाविक परिष्कृत रूप हैं। अपनी संस्कृति के मूल स्रोत की ओर शिक्षित जनता का ध्यान जाना प्राकृतिक है।

मौलिक नाटकों में संस्कृत नाट्य-प्रणाली का अनुकरण है। दोनों का आरंभ मंगलाचरण और प्रस्तावना से होता है। नहुष का प्रस्तावना के अतिरिक्त अन्य अंश अप्राप्य है अतएव उसके सम्बन्ध में विस्तार से जानना असंभव है। *आनन्द-रघुनन्दन* में अंक-विभाजन और दृश्य-परिवर्तन संस्कृत प्रथा के अनुसार है। अन्त भरत-वाक्य के ही रूप में होता है। *आनन्द-रघुनन्दन* के लेखक ने अपने पात्रों का जो नामकरण किया है उस पर संस्कृत में *प्रबोध-चन्द्रोदय* वाली सांकेतिक नाटक-प्रणाली का प्रभाव स्पष्ट है। ऐसा कर देने से लेखक ने अपने पात्रों के चरित्र को नाम द्वारा ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और वह बहुत कुछ अंश में चरित्र-चित्रण की जटिलता से बचकर कथा-वस्तु के विकास की ओर जा सका है। इस प्रणाली से जहाँ प्राचीन पौराणिक आख्यान की रक्षा हुई है वहाँ उसमें एक नवीनता भी आ गई है जिसके कारण विषय की एकरसता का परिहार नूतन उत्सुकता के रूप में अनायास ही हो गया है।

कलात्मकता की दृष्टि से *आनन्द-रघुनन्दन* बहुत उच्च कोटि की रचना नहीं है परन्तु वह सर्वप्रथम नाटक है इस दृष्टि से हम इसके महत्त्व को कम नहीं मान सकते। उसमें काव्यत्व की प्रधानता है, अन्य अंश गौण हैं।

स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक-साहित्य का सूत्रपात संस्कृत की परम्परा पर हुआ और उसके प्रारंभिक साहित्यिक नाटकों का आधार या तो धार्मिक विचारधारा है जिसके अनुसार असत्य पर सदैव सत्य की विजय होती है अथवा राम और नहुष के धार्मिक आख्यान हैं जिनसे

चरित्र-निर्माण में सहायता मिली है। साधारण जीवन की समस्याओं को लेकर ये नाटक नहीं लिखे गये।

अन्य रचनाओं को नाटक न मानने के कारण

नाटक के संक्षिप्त लक्षणों का उल्लेख आरंभ में हो चुका है। उनको ध्यान में रखते हुए हिन्दी में नाटक नाम से प्रचलित पुस्तकों पर दृष्टि जाती है तो यही कहना पड़ता है कि उनमें नाटकीकरण-कला का अभाव है। आलोच्य काल के नाटकों (*हनुमन्नाटक, समयसार नाटक, करुणाभरण नाटक, शकुन्तला-उपाख्यान, सभासार नाटक*) में कथावस्तु का नाटकीय विकास नहीं दिखाया गया। उनकी कथावस्तु केवल छन्दोबद्ध आख्यान हैं जो प्रबन्ध-काव्य की कोटि के हैं। ये सब रचनायें कविता में हैं। इनमें पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान का कोई संकेत नहीं, अंक-विभाजन और दृश्य-परिवर्तन का कोई चिह्न नहीं। अनेक स्थानों पर गति-निर्देश के लिए भी इसी प्रकार छन्दों का सहारा लिया गया है जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य में होता है। नाटक में लेखक मंच से पृथक् रहता है। वह सब पात्रों में विद्यमान रहता है परन्तु स्वयं एक पात्र नहीं बन जाता। उल्लेख्य रचनाओं में लेखक स्वयं अनेक स्थानों पर एक पात्र बन गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी अनुपस्थिति में आगे की कार्य गति असंभव हो जाती है। जब तक लेखक का वक्तव्य, जो वास्तव में एक अंश को दूसरे अंश से जोड़ने का साधन है, नहीं हो जाता तब तक गाड़ी आगे को नहीं खिसकती। ये रचनायें वास्तव में एक प्रकार के प्रबन्ध-काव्य हैं अथवा अधिक से अधिक नाटकीय-काव्य (Dramatic poetry) हैं, जिनकी कथा-वस्तु का विभाजन सर्ग-बद्ध परम्परा पर न होकर नाटक की अंकबद्ध परम्परा पर कर दिया गया है और यह सूचना भी कि अमुक अंक समाप्त हुआ, एक अंक के समाप्त होने पर ठीक उसी प्रकार मिलती है जिस प्रकार प्राचीन संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों में सर्गों की।

अब प्रश्न यह होता है कि नाटक न होने पर भी इनको नाटक नाम क्यों दिया गया? ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी का *हनुमन्नाटक* संस्कृत की मूल रचना के आधार पर ही नाटक कहलाने लगा। यह नाम रखते समय लेखक अपनी पुस्तक के मूल रूप को बिलकुल भुला बैठा और उसे यह ध्यान नहीं रहा कि रचना किसी भी दृष्टि से नाटक नहीं कहला सकती। *समयसार* को नाटक मानने के कारण की ओर परिशिष्ट में संकेत कर दिया गया है। *करुणाभरण*, *शकुन्तला-उपाख्यान* और *सभासार* को भी नाटक मानने का कारण उनके लेखकों द्वारा रचनाओं का अंक-बद्ध उल्लेख ही प्रतीत होता है। चाहे जो भी हो, यह निर्विवाद है कि हिन्दी के नाटक-साहित्य में इन रचनाओं की गणना तब तक एक भारी भ्रम है जब तक हम इन्हें *नाटकीय-काव्य* कह कर नाटक-साहित्य में सम्मिलित न कर लें। ऐसा करने में कोई हानि नहीं है क्योंकि अँगरेज़ी आदि साहित्यों में ऐसा होता आया है।

प्रबन्ध-काव्यों का नाटकों पर प्रभाव

हिन्दी नाटकों पर प्रबन्ध-काव्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा है। संवादों की प्रणाली और काव्यत्व के बाहुल्य के लिए हिन्दी नाटक इन्हीं प्रबन्ध-काव्यों के अधिक ऋणी हैं। *मानस* (सन् १५७४) के संवादों का तर्क, *रामचन्द्रिका* (सन् १६०१) के संवादों की स्पष्टता एवं वाक्पटुता, तथा *रामायण महानाटक* (सन् १६१०) एवं *हनुमन्नाटक* (सन् १६२३) की भाषा की सरसता ने संवाद-कला पर अवर्णनीय प्रभाव डाला है। संवाद-तत्त्व की प्रधानता नाटक में अधिक होती है क्योंकि गति-शीलता का विधायक यही तत्त्व होता है। हिन्दी के साहित्यिक नाटकों में कविता का आधिक्य और रंगमंचीय नाटकों के वार्तालाप में पद्यमय भाषा का चलन संभवतः इन्हीं प्रबन्ध-काव्यों का प्रभाव है।

(आ) रंगमंचीय नाटक-साहित्य

भारतेन्दु ने *जानकी-मंगल* (सन् १८६२) को हिन्दी भाषा का सर्वप्रथम खेला जाने वाला नाटक माना है और इसका उल्लेख उन्होंने अपने '*नाटक*' में किया है। दुर्भाग्य से यह नाटक उपलब्ध नहीं। प्राप्य रंगमंचीय नाटकों में सब से पुरातन नाटक इन्दर-*सभा* (र० का० १८५३) है । इसके लेखक सैयद आगा हसन 'अमानत' (सन् १८१६—५८ ई०) थे, जो प्रसिद्ध उर्दू कवि 'नासिख' के शिष्य और लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह (सन् १८४७—८७ ई०) के दरबारी कवि थे। अपने आश्रयदाता के कहने पर ही यह गीति-नाट्य (Opera) 'अमानत' ने लिखा था।

यद्यपि इन्दर-*सभा* शुद्ध हिंदी भाषा का नाटक न होकर प्रधानतः उर्दू का गीति-नाट्य है परन्तु उसकी भाषा को आजकल की कठिन उर्दू भाषा नहीं कहा जा सकता; वह वास्तव में हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा है और उसकी गणना इस दृष्टि से हिंदी रंगमंचीय नाटकों में भी हो सकती है। इन्दर-*सभा* के समाप्त होते ही लखनऊ के कैसर-बाग में रंगमंच तैयार किया गया। कहते हैं इसी ठाट बाट से सजे रंगमंच पर इन्दर-*सभा* का अभिनय हुआ और स्वयं नवाब वाजिद्अली शाह ने उसमें राजा इन्दर का अभिनय किया।'[१]

इन्दर-*सभा* गीति-नाट्य होने के कारण अपना विशेष स्थान रखती है। टेकनीक की दृष्टि से साहित्यिक नाटकों की प्रणाली का अनुकरण इसमें भी पाया जाता है। साहित्यक नाटकों में जो स्थान मंगलाचरण और प्रस्तावना का है उसकी पूर्ति के लिए इसमें भी निर्देशक (Director) की आवश्यकता होती है। भेद इतना ही है कि संस्कृत

---

१. A History of Urdu Literature by Ram Babu Saxena P. 351.

नाटकों की प्रणाली के अनुसार नाटक की कथा-वस्तु, कवि-परिचय आदि की सूचना दर्शकमंडली को सूत्रधार आदि के परस्पर वार्तालाप से मिलती है और इस गीति-नाट्य में इन सब अंशों की सूचना या तो निर्देशक के द्वारा मिलती है अथवा किसी पात्र के मुख से स्वयं ही भावी कार्यक्रम का पता चल जाता है।

इन्दर-सभा के आरंभ में जो कविता-पाठ होता है उससे नाटक की प्रकृति, रंगमंच के शिष्टाचार और कतिपय लक्षणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

सभा में दोस्तो ! इन्दर की आमद आमद है।
परी-जमालों के अफ़सर की आमद आमद है।
दो जानू[1] बैठो क़रीने के साथ महफ़िल में।
परी-के-देव के लश्कर[2] की आमद आमद है।
ग़ज़ब का गाना है और नाच है क़यामत का।
बहारे-फ़ितनये मशहर[3] की आमद आमद है।

रेखांकित पंक्तियाँ सभा के शिष्टाचार और नाट्य-गीति की कथा-वस्तु की ओर ही संकेत करती हैं। इस सूचना के पश्चात् राजा इन्दर प्रवेश करते हैं और अपना परिचय अपने आप देते हैं—

राजा हूँ मैं कौम का और इन्दर मेरा नाम है।
बिन परियों के दीद[4] के मुझे नहीं आराम।
सुनो रे मेरे देव रे![5] दिल को नहीं क़रार।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार।
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन।
मुझ को शब भर बैठना महफ़िल के दर्मियान[6]।

१—घुटने टेककर। २—इन्द्रदेवता की सभा। ३—प्रलय मचाने वाली बहार। ४—दर्शन। ५—राजा इन्दर का संदेशवाहक और आज्ञाकारी भृत्य एक देव। ६—बीच में।

मेरा सिंगलदीप में मुल्कों मुल्कों राज।
जी मेरा है चाहता कि जलसा देखूँ आज।
लाओ परियों को अभी, जल्दी जाकर हाँ।
बारी बारी आन कर मुजरा करें यहाँ।

सभा में आवश्यक सामान, उसके वाहक, नाटक का समय और कार्य-व्यापार के ढंग की सूचना राजा साहब स्वयं दे देते हैं। इस प्रकार रंगमंच की वर्तमान जटिलता से निर्देशक बिलकुल बच जाता है और दर्शक-मंडली भी धीरे-धीरे परस्पर बातचीत करती रहती है और नाटक से मनोरंजन भी होता रहता है।

इधर राजा साहब परियों के लाने की आज्ञा देते हैं और उधर निर्देशक संगीतज्ञ उनके आने से पहले सर्वप्रथम परी का परिचय देता है—

महफ़िले राजा[१] में पुखराज[२] परी आती है।
सारे माशूक़ों की सिरताज[३] परी आती है।
जिसका साया[४] न कभी ख्वाब[५] में देखा होगा।
आदमी ज़ादों[६] में वह आज परी आती है।
दौलते-हुस्न[७] से हो जायगा आलम[८] मामूर[९]।
करने इस बज़्म[१०] में अब राज परी आती है।
रंग हो ज़र्द[११] हसीनों[१२] का न क्यों कर 'उस्ताद'
गुल है महफ़िल में कि पुखराज परी आती है।

इस गाने के पश्चात् पुखराज परी के चरित्र-चित्रण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। परस्पर वार्तालाप अथवा वातावरण

१—राजा की सभा में। २—नाम परी का। ३—शिरोमणि। ४—छाया। ५—स्वप्न। ६—मनुष्य जाति में, क्योंकि परियाँ तो स्वर्ग की रहने वाली मानी गई हैं। ७—यौवन-धन। ८, ९—संसार भर जायगा। १०—सभा। ११—पीला। १२—सुन्दर पुरुषों का।

द्वारा नाटककार जिस चरित्र के विकास के लिए उत्सुक रहता है उसकी पूर्ति निर्देशक द्वारा हो जाती है। रही सही कमी को या तो दर्शकमंडली अपनी कल्पना से पूर्ण कर लेती है या फिर स्वयं पात्र (यहाँ पर पुखराज परी) अपने परिचय द्वारा पूरा कर देता है। पुखराज प्रवेश करते ही कहती है—

गाती हूँ मैं और नाच सदा काम है मेरा।
आफ़ाक़[1] में पुखराज परी नाम है मेरा।
कहते हैं जहाँ[2] में जिसे इंसाँ[3] गुलो-सम्बुल[4]।

... ...

वह रुख़[5] है वह गेसुये-सियाहफ़ाम[6] है मेरा।
बदमस्त मुझे देख के होती है खुदाई।
मामूर[7] मये-हुस्न[8] से क्या जाम[9] है मेरा।
करती हूँ दिलो-जाँ से मैं राजा की परस्तिश[10]।
कहते हैं जिसे कुफ्र[11] वह इस्लाम[12] है मेरा।
इन्साँ की शरारत से मेरा बस नहीं चलता।
दिल लेके मुकर जाना सदा काम है मेरा।

अपने परिचय के पश्चात् पुखराज अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करती है और फिर गाना और नाचना आरंभ हो जाता है। कार्य-व्यापार के लिए इतना ही पर्याप्त समझ लिया गया है। वह ६ गाने गाती है जिनमें ठुमरी, वसन्त, होली और गजल सब मिले होते हैं। रचना-कला की दृष्टि से ये गीत कुछ उच्च कोटि के नहीं हैं। गीति-

---

१—संसार। २—संसार। ३—मनुष्य। ४—एक फूल जिससे उर्दू के कवि बालों की उपमा देते हैं। ५—गाल। ६—काले काले बाल। ७—भरा हुआ। ८—यौवन-मदिरा। ९—प्याला। १०—पूजा। ११—नास्तिकता (किसी की पूजा करना)। १२—धर्म।

काव्य निम्न स्तर का है जो मजदूरों, कुंजड़ों और पान तंबाकू वालों को ही अधिकतर अच्छा लगता है।

इस गीति-नाट्य का शृंगारिक वातावरण विलासिता और काम का उद्दीपक है! संभवतः नवाब वाजिद अली को इसीलिए यह इतना प्रिय था और 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत के अनुसार जनता में भी *इन्दर-सभा* की बड़ी धूम रहती थी। जिस समय पुखराज का अभिनय करने वाला लड़का ज़रा हाव-भाव से आँखें मटका कर इशारे द्वारा कहता—

बोसे जो तलब मैंने किए हँस के ये बोले।
सरकार से मौक़ूफ़ है तनख्वाह तुम्हारी॥
... ...
आशिक़ को ज़हर ग़ैर को मिसरी की दो डली।
इस तरह की न बात ज़ुबाँ से निकालिए॥

तो बस दर्शक-मंडली आनन्द में उछल पड़ती और प्रेमलीला के अश्लील स्वरों से रंगमंच तक गुँजा डालती।

उपरोक्त रूप में *इन्दर-सभा* की कथावस्तु का विकास होता। जब निर्देशक देखता कि दर्शक-मंडली एक ही व्यक्ति के नाच गाने और वक्तव्य से उकता गई होगी, तभी दूसरा व्यक्ति मंच पर आ कर अपना कार्य आरंभ कर देता। *इन्दर-सभा* का सारा कथानक इसी प्रकार लिखा गया है।

यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि इसी के आधार पर मदारी-लाल ने एक और *इन्दर-सभा* लिखी जो नाट्यकला की दृष्टि से अमानत की *इन्दर-सभा* से अधिक उत्कृष्ट है। उसमें कार्य-व्यापार और चरित्र-चित्रण का विकास अमानत की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। *इन्दर-सभा* के एक वर्ष पश्चात् ही '*नाटक छैल बटाऊ मोहना रानी*' का लिखा गया।

इस प्रकार रंगमंचीय नाटकों का आरम्भ गीति-नाट्य से हुआ।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या इन रंगमंचीय नाटकों के साथ विशेषकर और साहित्यिक नाटकों के साथ साधारणतया कोई तत्कालीन रंगमंचीय परम्परायें थीं अथवा नहीं ?

जहाँ तक साहित्यिक नाटकों का सम्बन्ध है किसी अभिनय-शाला अथवा नाटक-कंपनी का कोई उल्लेख प्राप्य नहीं है। अतएव केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि इस दिशा में जो कुछ भी हुआ वह केवल स्वतंत्र प्रयास था। नाटक-लेखकों ने अपने नाटकों को जनता के लिए नहीं लिखा वरन उनका यह प्रयत्न साहित्य के एक अंग को आरंभ करने का उपक्रम मात्र था।

रही रंगमंचीय नाटकों की बात। इस विषय में भी कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती। जैसा ऊपर कहा जा चुका है *इन्दर-सभा* के अभिनय के लिए लखनऊ के कैसर-बाग में रंगमंच बनाया गया था। यह कैसा था और इसके पहले कोई अन्य रंगमंच था या नहीं इस विषय पर राम बाबू सकसेना भी मौन हैं।

परन्तु मनोरंजन के साधनों का अभाव न था यह निश्चित है। भारतवर्ष की अन्य जनता की तरह हिन्दी-भाषा-भाषी भी दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—शिक्षित नागरिकजन और अशिक्षित ग्रामीण। इनके अनुकूल मनोरंजन के भी साधनों में विभिन्नता होती है। यदि नागरिक दीपावली का उत्सव मनाकर आनन्द का अनुभव करता है तो ग्राम-निवासी होली के उत्सव में ही अपने हृदय के अरमान निकालने में व्यस्त रहता है। इसी प्रकार यदि नगर-निवासी अनेक शिष्ट-मंडलियों द्वारा अभिनीत नाटकों को देख कर हर्ष प्राप्त करते हैं तो गाँव में रहने वाले आकाश-वितान के नीचे ढोल और ढोलक में मृदु स्वर में स्वर मिलाकर अनेक लीलाओं में अपने को सराबोर कर देते हैं।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले इन मनोरंजनों में संभवतः सब से प्राचीन 'रास-लीला' है। इसके ऐतिहासिक उद्गम का कोई निश्चित

प्रमाण नहीं है। परन्तु रास-लीला के आरंभ में जो महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र की स्तुति होती है उससे तो यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका आरंभ महाप्रभु के पश्चात् हुआ। महाप्रभु का समय सन् १४७९-१५३१ ई० माना जाता है। अतएव रासलीला का आरंभ १५३१ ई० के पश्चात् होना चाहिये।

रास-लीला का सम्बन्ध श्रीकृष्ण की लीलाओं के प्रदर्शन से है। आचार्यों और भक्त-कवियों द्वारा भगवान की साकार उपासना का जो उपदेश दिया गया रास-लीला उसी का नाटकीय अभिव्यंजन है। इसी को हम उस गीति-नाट्य-परंपरा का आदि रूप मान सकते हैं जिस प्रणाली पर अमानत की इन्दर-सभा लिखी गई; यद्यपि दोनों के वातावरण में आकाश-पाताल का अन्तर है। बंगाल में प्रचलित 'यात्रा' भी भगवद्भक्तों के हृदय-उद्गारों का ऐसा ही नाटकीय रूप है।

रास-लीला की पद्धति पर ही 'राम-लीला' का सूत्रपात हुआ। वैसे राम-चरित्र, कृष्ण-चरित्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन और लोकप्रिय था।

रास-लीला और राम-लीला दोनों भारतवासियों की धार्मिक मनोवृत्ति की प्रतीक हैं। समस्त देश में भारतीय संस्कृति की एकता स्थापित करने में ये बड़ी सहायक रही हैं। गाँव और नगर दोनों में इनका प्रचलन था, उसी प्रकार जिस प्रकार आज भी देखा जाता है। इनके कारण धार्मिक एकता के सम्बन्ध-सूत्र का जो निर्वाह हुआ है उसी कारण गुजरात और मद्रास के वैष्णव वृन्दावन के वैष्णवों के सत्संगी रहे और इसी प्रकार रामोपासक भिन्न प्रान्त-निवासी भी। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इतनी लोकप्रिय होते हुए भी इनके कारण आलोच्य-काल में लिखा हुआ ऐसा नाटक नहीं मिलता जिसमें इन कथाओं को नाटकबद्ध किया गया हो। रंगमंच के वर्तमान रूप के निर्माण में इनका विशेष महत्त्व नहीं है। परन्तु एक नाटकीय प्रदर्शन परम्परा की रक्षा इनसे अवश्य हुई। इसी कारण रास-लीला के 'लाला

मंसुखा' दर्शकों में 'हास्य' की परम्परा बनाये रखने में समर्थ रहे।

दोनों लीलाओं के अतिरिक्त नाटकीय प्रदर्शन का एक तीसरा रूप और विद्यमान था। इसे 'नक्ल' कहते थे। संभवतः यह वर्तमान 'साँग' का ही पर्यायवाची है। 'साँग' की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। यह शब्द 'स्वाँग' का अपभ्रंश हो सकता है क्योंकि किसी का 'रूप भरना' परन्तु ठीक प्रकार के रूप का आरोपण न होकर पात्र में कुछ विकृतता का आ जाना 'स्वाँग भरना' कहलाता है। वर्तमान समय में 'साँग' का जो रूप प्रचलित है, और जैसा पहले भी प्रचलित होगा, वह इस मुहावरे से पूर्ण मेल खाता है। यह भी संभव है कि 'साँग' और उसका पर्यायवाची 'सांगीत', 'संगीत' शब्द से निकले हों। 'साँग' या 'सांगीत' में संगीत की ही प्रधानता होती है। अतएव 'साँग' को 'संगीत' का फूहड़ रूप मान लेने में विशेष बाधा नहीं होनी चाहिए। 'नक़्ल' या 'साँग' (स्वाँग) आमोद-प्रमोद का पुराना साधन था। इसका सब से प्राचीन उल्लेख मौलाना ग़नीमत की मसनवी 'नैरंगे-इश्क़' में मिलता है। मौलाना औरंगज़ेब के समकालीन थे। इस मसनवी की रचना उसी समय सन् १६८५ ई० में हुई थी। मौलाना ने लिखा है—

"बशहरे मशब रसीदा तुरफ़े जाम आ,
शरर परवाना हा बर गरदे शम आ।
मुक़ल्ला पेशये बा तर्ज़ो अन्दाज़,
मुशाबिद सीरताँ बा नग्मो-साज।
व इल्म रक्स ओ तक़लीद ओस्तादाँ,
मुराद ख़ातिर इशरते न ज़ादाँ।
हमः खुश बहेजगाँ नग्मा परदाज़,
वहरफ़ इस्तलाहेमा 'भगतबाज'।
बफ़न्ने ख़विश्तन उस्ताद हर यक,
गहे मर्दो गहे ज़न गहे तिफ़लक।

गहे सन्नासियाने यूँ परीशाँ,
गहे इस्लामियाँने अहले ईयाँ ।
गहे दर गुरवतो गाहे वशंगी,
गहे कश्मीरी वो गाहे फिरंगी ।
गहे हिन्दू ज़नान ख़तना हमदोश,
मुसलमाँ ज़ाद हा रा ग़ारते होश ।
गहे दहकाँ ज़न व गहे पीर दहकाँ,
गहे गिब्र पृत्तरिश ना मुसलमाँ ।
क़ज़्लवाशाना गहे अमरो ख़रीदार,
गुलामी गहे चू तूती चरब गुफ्तार ।
गहे रंगे-ज़ने नौ ज़ाहद बर ओ,
बदस्ते दाया गरियाँ ज़ादये मो ।
गहे दीवाना व गहे परी बूद,
कलामशरा शुनीदन बावरी बूद ।
ज़हर क़ौमी कि ख्वाही जलया साज़िन्द,
बहर रंगे कि ख्वाही इश्वा वाज़िन्द ।

[आज शहर में अजब क़िस्म के लोग आए हैं जो एक तरज़ो अन्दाज़ (विशेष ढंग से) के साथ नक़लें करते हैं और नग़मोसाज (संगीत) के साथ शोबदे (आश्चर्यजनक खेल) दिखाते हैं। नाच और नक़ल में ये उस्ताद हैं, खुश-आवाज़ (मीठे स्वर वाले) हैं। हमारी इस्तलाह (भाषा) में इनको 'भगत-बाज़' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नक़ल करते हैं, कभी परेशान बाल-संन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का भेस बनाते हैं और कभी फिरंगी (अंगरेज़) बन जाते हैं। कभी दहक़ानी (फूहड़) औरत और मर्द की नक़ल करते हैं; कभी दाढ़ी मुँड़ाकर गिब्र की सूरत में नज़र आते हैं। कभी मुग़लों की शकल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते

हैं; कभी ज़च्चा का हुलिया बना लेते हैं जिस का बच्चा दाया की गोद में रोता होता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। ग़रज़ हर क़ौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के इश्वा ज़माने से काम लेते हैं।]

मौलाना के उपरोक्त उल्लेख में 'भगत-बाज़ों' की भाषा के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। यदि ये नक़लें हिन्दी भाषा में होती थीं तो वे अवश्य एक निश्चित परंपरा की द्योतक थीं और यदि मुग़ल-दरबार में फ़ारसी का चलन होने के कारण उनकी भाषा फ़ारसी थी तो केवल यही परिणाम निकाला जा सकता है कि आमोद-प्रमोद का यह साधन १७ वीं शताब्दी के अर्ध भाग में विद्यमान था और उसका यह रूप अवश्य पुराना था। इसके अतिरिक्त यह भी सूचना स्पष्ट रूप से मिलती ही है कि 'भगतबाज़' अपनी कला को एक स्थान से दूसरे स्थान पर दिखाते फिरते थे। यह रूप भी वर्तमान चलती फिरती नाटक अथवा स्वाँग-मंडलियों जैसा ही रहा होगा। औरङ्गज़ेब जैसे कट्टर मुसलमान के समय में इस प्रथा का होना और भी अधिक आश्चर्यजनक है। अतएव 'नक़लों' का चलन औरङ्गज़ेब के प्रोत्साहन का फल न होकर अपनी किसी एक प्राचीन परिपाटी का ही अवशेष माना जा सकता है।

आलोच्यकाल के रंगमंच और उसके विकास के विषय में इससे अधिक सामग्री हमें प्राप्त नहीं है। अंगरेज़ी विद्वान सर विलियम रिजवे ने भारत के नाटक और नाटकीय नृत्य आदि के सम्बन्ध में कुछ परिणाम निकाले हैं जो भारतीय दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व नहीं रखते।[१]

१—Dramas & Dramatic Dances by Sir William Ridgeway, Page 172-84

नाटकों के अभाव के कारण

इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं और यद्यपि इन विद्वानों ने नाटक साहित्य के इतिहास पर पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से विचार नहीं किया है परन्तु फिर भी उनके कथन में बड़ा सार है।

संक्षेप में इन सब सम्मतियों का सार यह है कि हिन्दी में नाटक साहित्य के अभाव के कारण हैं—

१—उपन्यासों की ओर दिन-दिन बढ़ने वाली रुचि के अतिरिक्त अभिनय-शालाओं का अभाव।[1]

२—शान्तिमय वातावरण का अभाव।[2]

३—जातीय उत्साह की आवश्यकता का अभाव।

४—मुसलमानों द्वारा प्रोत्साहन का अभाव।

५—गद्य की प्रतिष्ठा का सम्यक् रूप से न होना।[3]

इन मतों पर दृष्टि डालने से यह तो निर्विवाद हो जाता है कि विद्वान लेखकों ने अपनी सम्मति बड़ी सुगमता से समस्त हिन्दी नाटक साहित्य के विकास के सम्बन्ध में दे दी है। शुक्ल जी ने जो दो कारण नाटक-साहित्य के अभाव के बताये हैं उनमें से प्रथम तो केवल हरिश्चन्द्र-कालीन साहित्य के लिए ही लागू हो सकता है क्योंकि आलोच्यकाल में उपन्यास का जन्म ही नहीं हुआ था फिर उसकी ओर बढ़ने वाली रुचि की बाधकता का प्रश्न ही कैसा? हरिश्चन्द्र-काल में अवश्य यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है। रही अभिनय-शालाओं के अभाव की बात, सो यह भी बहुत बलशाली तर्क नहीं है। अभिनय-शालाओं के होने से नाटक को प्रोत्साहन मिलता है और

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३९-४०

२—हिन्दी नाट्य-साहित्य—ब्रजरत्नदास, पृ० १-२

३—हिन्दी नाट्य-विमर्श—बा० गुलाबराय, पृ० ६५

उसमें जीवन की वास्तविकता और अभिनय-कला की उत्कृष्टता संभव हो जाती है, परन्तु उनके न होने से किसी भी साहित्य में नाटक-कला का विकास रुका हो ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए संस्कृत-साहित्य को लीजिये। संस्कृत का नाटक-साहित्य इतना सुसम्पन्न होने पर भी, प्रेक्षागृहों के सम्बन्ध में कोरा जैसा ही है। संस्कृत के प्रेक्षागृहों की मात्रा कितनी थी जिसके आधार पर उस साहित्य का विकास हुआ? स्वयं हिन्दी ही को ले लीजिए। आज उसका जितना नाटक साहित्य है उस दृष्टि से उसमें कितनी अभिनय-शालायें हैं? क्या वर्तमान साहित्य के विकास का श्रेय अभिनय-शालाओं को किसी भी प्रकार दिया जा सकता है? यदि नहीं तो मानना पड़ेगा कि अभिनय-शालाओं के होने से नाटक साहित्य के विकास में केवल सुगमता हो सकती है और इसलिए वे उसकी उन्नति में एक गौण कारण हैं प्रधान नहीं।

बा० ब्रजरत्नदास के तर्क में भी प्राण नहीं के बराबर हैं। यदि आलोच्यकाल (सन् १६४३—१८६७ ई०) के ऐतिहासिक वातावरण का लेखा-जोखा लिया जाय तो उनके तर्क की निष्प्राणता स्वतः ही प्रमाणित हो जाती है। इस काल को ऐतिहासिक दृष्टि से निम्न भागों में बांटा जा सकता है—

१. सन् १६४३ ई० से पूर्व का भारतवर्ष—अर्थात् जब हिन्दी-भाषा-भाषियों के प्रदेश पर अकबर और जहाँगीर राज्य कर चुके थे।

२. १६४३ से १७०७ तक का समय जिसमें शाहजहाँ और औरंगजेब का राज्य था।

३. अवध का नवाबी राज।

४. अंगरेजों से संपर्क—

(अ) १७५६—६४ ई०—प्लासी का युद्ध और बक्सर की लड़ाई।

(आ) १७६५—७१ ई०—दीवानी से राजशक्ति तक।

(इ) १७७२—१८६७—अंगरेज़ों का राज्य और उनकी व्यवस्था आदि ।

अनेक कारणों से यह सिद्ध है कि अकबर का राज्य-काल हिन्दी साहित्य के लिए विशेष कर और भारत के लिए सामान्यतया बड़ा उपकारी समय था। व्रजभाषा की जितनी उन्नति इस समय हुई वैसी किसी अन्य समय नहीं। सूर और तुलसी, रहीम और केशव सभी इसी काल की विभूति थे। अकबर और जहाँगीर दोनों सुरुचिपूर्ण साहित्य के प्रेमी थे। अकबर के दरबार में नवरत्नों की उपस्थिति एक ऐतिहासिक सत्य है। उसकी धार्मिक उदारता तो स्वयं मुसलमानों की कटु अलोचना का विषय बन गई थी।

जहाँगीर ने भी अपने पिता की भावनाओं को यथाशक्ति सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। यद्यपि वह अपने पिता की तरह अधिक उदार न था परन्तु इतना वह भी समझता था कि भारत का विशाल साम्राज्य केवल बल और शक्ति के भरोसे ही स्थिर नहीं रह सकता। मुग़ल-साम्राज्य की दृढ़ता के लिए सामाजिक स्वतंत्रता की आवश्यकता से वह अनभिज्ञ न था। उसके राज्य में हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहार बिना किसी पक्षपात के मनाये जाते थे। दशहरे के दिन राज्य के घोड़ों और हाथियों का जलूस शहर में निकाला जाता था; रक्षा-बंधन के दिन हिन्दू सरदार और ब्राह्मण बादशाह के हाथ में राखी बाँधते थे। दीवाली पर महल में द्यूत-क्रीड़ा होती थी। शिवरात्रि का पर्व भी परम्परानुसार मनाया जाता था। इसी तरह मुसलमानों की ईद और शबे-बरात भी मनाई जाती थी।[१]

शाहजहाँ के राज्यकाल में भी मुग़ल राजनीति का बहुत कुछ यही रूप था। साहित्य की दृष्टि से अधिक उन्नति फ़ारसी भाषा की हुई और उसी के कारण 'कलीम', 'कुदसी', 'काशी', 'सलीम' आदि अनेक

१—History of Jehangir—Beni Prasad Page 100-1

कवियों ने नाम कमाया। परन्तु शाहजहाँ स्वयं हिन्दी बोलता था। उसे हिन्दी संगीत से प्रेम था और हिन्दी-कवियों का वह आदर करता था। उसके दरबार में सुन्दरदास, चिन्तामणि तथा कवीन्द्र आचार्य जैसे कवि रहते थे।[1]

संगीत में उसे ध्रुपद विशेष प्रिय था और संगीतज्ञ जगन्नाथ को इसमें दक्ष होने के कारण 'महाकविराय' की उपाधि मिली थी। सुखसेन और सूरसेन भी क्रमशः रुबाव और बीन के प्रसिद्ध बजाने वाले थे।[2]

शाहजहाँ के समय ही उनके मुंशी कनवासी दास ने प्रसिद्ध संस्कृत नाटक *प्रबोध-चन्द्रोदय* का अनुवाद फ़ारसी भाषा में *'गुलज़ारे-हाल'* नाम सेकिया था।[3]

औरंगज़ेब का राज्य अपेक्षाकृत अनुदार नीति पर अवलंबित था। हिन्दुओं के अनेक कार्यों के विरोध में उसके फ़रमान मिलते हैं। परन्तु नाटकों के सम्बन्ध में ऐसा कोई फ़रमान नहीं देखा गया। जहाँ यह स्थिति इसकी सूचक है कि उस समय तक सक्रिय रूप में नाटकों का अभाव था वहाँ इसकी भी कम व्यंजक नहीं कि औरंगज़ेब ने नाटकों के अभिनय आदि के विषय में कोई प्रत्यक्ष नियम जारी किया हो। ऐसा होते हुए भी आलोच्य-काल के कुछ नाटकों का अनुवाद अथवा लिपि-काल औरंगज़ेब का ही राज्य-काल है। उसी के समय में अनाथदास और सुरतिमिश्र ने क्रमशः सन् १६६९ ई० और सन् १७०३ ई० के लगभग संस्कृत के *प्रबोध-चंद्रोदय* का हिन्दी में अनुवाद किया। नेवाज का *शकुन्तला* (सन् १६८० ई०) और रघुराम नागर का *सभासार नाटक* (सन् १७०७) औरंगज़ेब के समय में लिखे गये।

१—History of Shahjahan, Dr.—Banarsi Prasad P. 259.
२— " " " " " P. 268.
३— " " " " " P. 257.

अतएव सन १७०७ तक के समस्त वातावरण और मुगलों की नीति एवं तत्कालीन स्थिति पर ध्यान देते हुए ब्रजरत्नदास जी का तर्क और गुलाबराय जी की दलील कि मुसलमानों द्वारा नाटक को प्रोत्साहन नहीं मिला, हिन्दी नाटक साहित्य के अभाव के हृदयंगम होने वाले कारण नहीं प्रतीत होते। मुसलमान कट्टर अवश्य थे परन्तु जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, उनमें सहिष्णुता भी थी। अवध की नवाबी के काल में *'इन्दर-सभा'* की रचना इसका एक और प्रमाण है।

गुलाबराय जी ने 'जातीय-उत्साह' की कमी भी नाटकों के अभाव का कारण माना है। यद्यपि उनकी शब्दावली का अर्थ स्पष्ट नहीं है परन्तु उनका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि अनेक कष्टों, अनाचारों और धार्मिकता के विरोधी वातावरण के कारण जनता को मनोनुकूल कार्य करने की स्वतंत्रता न थी और वे जो कुछ भी करते विवश होकर करते। जिस मुगल-काल में वैष्णव धर्म का स्वतंत्रतापूर्वक प्रचार हो हो सकता था, जिस काल में हिन्दी-कविता अपने उच्च शिखर पर पहुँच सकती थी, उस काल में बाबूजी किस प्रकार के 'जातीय उत्साह' का अभाव अनुभव करते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर तो परिणाम इस मत के विपरीत प्रतीत होता है। रही युद्ध इत्यादि की बात—ये तो सभी समय में होते रहे हैं और फिर भी साहित्य का विकास ही होता रहा है। कभी-कभी तो इन युद्धों ने ही उच्चतम साहित्य-ग्रन्थों को जन्म दिया है।

गुलाबराय जी का गद्य-विकास का अभाव भी ऐसा ही तर्क है। पहली बात तो यह कि इस समय गद्य का, विशेष रूप से ब्रजभाषा के गद्य का, विकास हो गया था। दूसरी बात यह है कि मान भी लें कि गद्य का विकास सम्यक् नहीं था तो भी तो उसका अभाव नाटक साहित्य के अभाव का कारण कैसे मान लिया जाय? *सूरसागर* के पहले कौन सी ब्रजभाषा के दर्शन होते हैं? यदि भक्ति की एक धारा

और सूरदास का व्यक्तित्व इस अतुल ग्रन्थ की रचना कर सकता था तो नाटक साहित्य के लिए अवश्य गद्य का निर्माण भी सुगमता से हो सकता था। परन्तु इसके लिए एक विशेष विचार-धारा की आवश्यकता थी, विशेष प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो इस काल ने उत्पन्न नहीं किए।

परोक्ष दृष्टि से देखा जाय तो सिद्धान्त रूप में भी यह बात मान्य नहीं है। संस्कृत का अतुल नाटक-साहित्य अधिकांश में कवितामय है; उसके *शकुन्तला* और *उत्तररामचरित* में कितना गद्य का अंश है जिसके कारण ये नाटक इतने ऊँचे समझे जाते हैं ? क्या अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के नाटकों का मान उनमें पाये जाने वाले नगण्य गद्य पर स्थिर है ?

ये सब तर्क और कारण नाटक के विकास के लिए मुख्य न होकर गौण हैं। अतएव हमें चाहिए कि इस अभाव के कारणों को किसी अन्य स्थान पर खोजें।

साहित्य का उदय जिन उपकरणों पर अवलम्बित है वे तात्त्विक रूप से उसके विभिन्न भेदों में अन्तर्निहित रहते हैं, परन्तु उसके साथ-साथ प्रत्येक भेद की अपनी आवश्यकताएँ भी होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही उसके अनुरूप भेद का जन्म और विकास होता है। नाटक के लिए आवश्यक तत्त्व हैं—

१. जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण;

२. इस दृष्टिकोण का व्यक्तित्वरहित (Impersonal) अभिव्यंजन।

नाटक के लिए जीवन केवल जीना मात्र ही नहीं है और न वह एकमात्र आनन्दमय स्वप्न है। उसके लिए जीवन एक क्रिया है, गति (Action) है और इस गति की विभिन्नता का प्रदर्शन—साधारणतया जीवन की एकरसता को हटाकर उसे सुव्यवस्थित कलात्मक रूप देकर दूसरों के सामने रखना—उसके लिए जीवन की व्याख्या

है। व्यक्तिगत हर्ष और उन्माद, शोक और रुदन, हास और विलास आदि उसी क्रियाशील जीवन के प्रदर्शनीय अंश हैं जिनमें वह एक-सूत्रता देखता है। जिस समय यह अनुभव केवल व्यक्तिगत भावना का रूप धारण कर प्रकट होते हैं उस समय वे कविता का स्वरूप बन जाते हैं। इसमें व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। कवि स्वयं ही अनुभव करता है और स्वयं ही उस भाव में मग्न रहता है। परन्तु जिस समय अपने व्यक्तित्व को पृथक् कर लेखक उनका आरोपण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया अन्य पात्रों में दिखाता है बस उसी समय नाटक का जन्म होता है। यह व्यक्तित्वहीन प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। अंगरेज़ी के कवियों तक ने इसका अनुभव किया और शैली, बायरन यहाँ तक कि मिल्टन तक ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए नाटक और उसकी प्रणाली का आश्रय लिया। इस आरोपण का जितना सुन्दर कलात्मक प्रदर्शन होगा नाटक की सुन्दरता भी उसी मात्रा में बढ़ जायगी।

अतएव नाटक और उसके साहित्य को जन्म देने के लिए उपरोक्त दोनों तत्त्वों की आवश्यकता है। जिस युग में इस प्रकार की विचारधारा बनी उसी में नाटक-सृजन हुआ। कालिदास के नाटक जीवन की अनेकरूपता वाले विकास-युग में ही लिखे गये। अंगरेज़ी में भी ऐसा ही हुआ। हमारा आलोच्य काल इस प्रकार की विचारधारा के लिए उपयुक्त न था। इसके अनेक कारण थे।

शताब्दियों की दासता और धार्मिक आन्दोलनों और कर्मवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों ने हमारे जीवन को क्रिया-हीन बना दिया था। ये धार्मिक परम्परायें अनेक रूपों में हिन्दी-भाषा-भाषियों के सामने आईं। वेदों और उपनिषदों के द्वारा हमारा इतना मानसिक और आत्मिक विकास हुआ कि हम संसार की वस्तु ही न रह गये। हमारी सारी शक्ति ब्रह्म और जीव तथा जगत् के वास्तविक स्वरूप की खोज में आनन्द-प्राप्ति का साधन ढूँढती रही। इस प्रवृत्ति ने

हमें गतिशील न बनाकर चिंतनशील बना दिया। इसी प्रकार अन्य पौराणिक, धार्मिक आन्दोलनों ने हमारे व्यक्तित्व को मिटा देने में सहायता दी। नियतिवाद का निकृष्ट रूप स्वाभाविकतया निष्क्रियता का प्रतिपादक है। संसार की असारता, मोक्ष की चिन्ता और पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की साधना—सभी भावनायें जीवन को प्राण-संपन्न (Living) शक्ति बनाने में अवरोधक हैं। भक्ति का आत्म-समर्पण वाला संदेश भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया का उपकरण है।

जीवन में चिंतन की अवहेलना नहीं की जा सकती और न कर्मकाण्ड को ही अनुपादेय माना जा सकता है। परन्तु हमारा दुर्भाग्य यही रहा है कि जब कभी भी हमने दोनों को उचित मात्रा में न अपना कर उनके अनुपात में व्यतिक्रम किया तभी हमारे व्यक्तित्व और समाज की व्यवस्था में अन्तर उपस्थित हो गया। आलोच्य काल में यह व्यवस्था और बढ़ गई। दूसरी जातियों से पराजित होने के कारण जहाँ हम अपने व्यक्तित्व के बल को खो बैठे वहाँ हमारी मानसिक चिंताधारायें भी, जिन की नींव चिंतन और संसार की क्षण-भंगुरता आदि हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, तत्कालीन संतों के ज्ञानाश्रयी और आत्म-समर्पण वाले भक्ति-आन्दोलनों के प्रभाव से अछूती न रह सकीं। हमारी राजनीतिक स्थिति और नैराश्य की उस अवस्था में ये उपकरण उन वृत्तियों को जगाने में समर्थ न हो सके जो जीवन पर क्रियात्मक दृष्टि डालने के लिए आवश्यक हैं। परिणाम-स्वरूप हमारी जीवनधारा एक ओर तो उस युग की चिंताधारा के साथ मिल गई और दूसरी ओर केवल मात्र अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यस्त रही। एक का परिणाम कविता के रूप में प्रकट हुआ और दूसरी का यांत्रिक जीवन-यापन के रूप में। ऐसी अवस्था में नाटक-सृजन की प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हो सकती थी ?

अंगरेज़ों के सम्पर्क में आने के पश्चात् जब हमने जीवन की ओर

दूसरे ढंग से दृष्टिपात किया और जब हमारी धार्मिक परम्परायें शिथिल होकर बुद्धिवाद में परिणत होने लगीं तो नाटक के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की योजना का आरंभ हो गया और परिणाम-स्वरूप कुछ नाटकों की रचना हुई, यद्यपि इनमें भी पुरानी धार्मिक प्रवृत्ति का अभिव्यंजन ही प्रमुख था। यह स्वाभाविक स्थिति थी।

धार्मिकता और दर्शनवादिता का प्रभाव कितना अधिक था इसका प्रमाण स्वयं आलोच्याकाल के नाटक हैं। इनके विषय को यदि ध्यान में रखा जाय तो इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। *प्रबोध-चन्द्रोदय* और *समय-सार* नाटक सत्य और असत्य, शान्ति और पुण्य एवं आत्मविकास आदि विषयों पर ही लिखे गये हैं। अन्य नाटकों का विषय वीर-पूजा के रूप में पौराणिक आख्यानों द्वारा धार्मिक पुरुषों का गुणगान ही है।

अतएव हमारे विचार में अन्य विद्वानों ने नाटक साहित्य के अभाव के जो कारण बताये हैं वे नितान्त निराधार तो नहीं हैं परन्तु वे प्रमुख न होकर गौण हैं। वास्तव में अभाव का प्रधान कारण युग का अनुपयुक्त वातावरण है।

उपसंहार

सामान्यतया इस युग में अधिक नाटक साहित्य का सृजन और विकास नहीं हुआ। जो नाटक प्राप्य हैं उनमें से कुछ तो प्रबन्ध-काव्य हैं। अधिक से अधिक इन्हें नाटकीय-काव्य (Dramatic Potry) कहा जा सकता है। *हनुमन्नाटक*, *समय-सार नाटक* और *शकुन्तला-उपाख्यान* इसी श्रेणी में आते हैं। प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति इसी प्रकार की नाटकीय कविता से होती है। ऐसे ग्रन्थों में गति-शीलता, दृश्य, दृश्यान्तर आदि प्रसंगों और उपकरणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अंगरेजी साहित्य में सब से पहले इसी प्रकार के नाटक लिखे

गये। दूसरी प्रकार के नाटक इस कोटि से अधिक उन्नत हैं। उनमें कार्य-गति और दृश्य-परिवर्तन, चरित्र-चित्रण, वार्तालाप आदि अंगों का यथासंभव विकास मिलता है। ऐसे नाटकों के भी दो रूप हैं—साहित्यिक नाटकों में *प्रबोध-चन्द्रोदय* का अनुवाद और *आनन्द-रघुनन्दन* प्रमुख हैं और रंगमंचीय नाटकों में अमानत-कृत *इन्दर-सभा*।

इस प्रकार इस युग में चार धारायें नाटकीय साहित्य की उत्पन्न हुईं—

१. नाटकीय-कविता (Dramatic Poetry)
२. अनुवादित नाटक
३. मौलिक नाटक।
४. रंगमंचीय नाटक।

अध्याय २

हिन्दी नाटक साहित्य का विकास

(सन् १८६७—८५ ई०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(सन् १८५०—८५ ई०)

भारतेन्दु का नाटक रचना काल (१८६७—८५) ऐसा समय है जब भारत का भाग्य बन चुका था। सन् १७५७ में पहली बार भारत का पूर्वीय भाग अंगरेजों के हाथ में आया और तभी से उन्होंने यहाँ व्यवसाय की नीति का परित्याग कर राज्य-स्थापना का श्रीगणेश किया। सन् १८६७ ई० तक अनेक ऐसी घटनायें हुईं जिन्होंने भारत के राजनीतिक, समाजिक एवं सांस्कृतिक विकास पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव डाला। साहित्य भी इससे अछूता न बच सका। ये नये आन्दोलन धार्मिक भी थे और साहित्यिक भी।

अंगरेजी सत्ता की स्थापना के साथ उनकी नीति का अनुकरण भारतवासियों के लिए अनिवार्य हो गया। पतनोन्मुखी जनता के लिए और दूसरा चारा भी क्या था? परन्तु बीच-बीच में स्वतंत्रता प्राप्त करने वाली शक्तियों और साधनों का भी उदय और अस्त हुआ। अंगरेज मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार, स्वामी दयानन्द द्वारा वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का बलशाली उद्योग और राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रचलित 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना आदि अनेक ऐसी संस्थायें थीं जिन्होंने साहित्य पर विशेष प्रभाव डाला। ईसाई मिशनरियों द्वारा ही सबसे पहले भारतीय धार्मिक और साहि-

त्यिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं उनका अंगरेज़ी में अनुवाद प्रकाशित होना आरंभ हुआ। विदेशियों को ऐसा करते देखकर भारतीयों का ध्यान भी अपने पुराने साहित्य के अध्ययन की ओर गया। स्वामी दयानन्द ने देशी भाषा द्वारा ही राष्ट्रीय उन्नति का संदेश दिया। राजा राममोहन राय ने कट्टर सनातनियों और नवीन प्रकाश वालों के लिए एक मध्यम-मार्ग का प्रदर्शन किया। अंगरेज़ी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण ये नये-नये परिवर्तन अवश्यंभावी थे। बंगाल में जो नूतन साहित्यिक जागृति हुई उसके मूल में यही कारण वर्तमान थे।

इस प्रकार भारतेन्दु के समय जो वातावरण बन चुका था वह स्वयं उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। कट्टर वैष्णव भक्त होते हुए भी उनके पिता ने भारतेन्दु की बहन को पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा था और स्वयं भारतेन्दु को अंगरेज़ी की शिक्षा दिलाने के लिए स्कूल में भरती कराया था।

भारतेन्दु के सामने पड़ोसी बंगाल में उमड़ती हुई नवीन साहित्यिक धारा वर्तमान थी, जिसमें अंगरेज़ी आधार लेकर नये प्रकार के काव्य और नाटकों का सृजन हो रहा था। बँगला के प्रधान नाट्यकार रामनारायण तर्करत्न (१८२२—७६), माइकेल मधुसूदन दत्त (सन् १८२४—७३) और दीनबन्धु मित्र (१८३०—७४) आदि भारतेन्दु के समकालीन ही थे। इनके अतिरिक्त हिन्दी नाटक और काव्य की परम्परायें भी उनसे छिपी नहीं थीं। इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच में भारतेन्दु ने अपना मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दु के नाटकों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) अनुवादित (आ) रूपान्तरित और (इ) मौलिक।

(अ) अनुवादित रचनायें

रत्नावली नाटिका—यह थानेश्वर के प्रसिद्ध राजा और कवि

श्री हर्षदेव के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। अपने अनुवाद की भूमिका में भारतेन्दु ने कहा है—

"*शकुन्तला* के सिवाय और सब नाटकों में *रत्नावली* नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है······

"इस नाटिका में मूल संस्कृत में जहाँ छन्द थे वहाँ मैंने भी छन्द किए हैं और यदि संस्कृत के छन्दों से इस के छन्दों को मिला के पढ़िए तो इसका परिश्रम प्रगट हो जायगा।

"मुझे इसके उल्था करने में पं० श्री शीतला प्रसाद जी से बहुत सहायता मिली है।[१]"

इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट हैं—*रत्नावली* का सम्पूर्ण अनुवाद हुआ और गद्य तथा पद्य दोनों में हुआ। परन्तु जो अंश प्राप्य है उसमें केवल नांदी, प्रस्तावना और विष्कम्भक मात्र है। नांदी के श्लोकों का अनुवाद पद्य में न हो कर गद्य में है। यह स्थिति भारतेन्दु जी के वक्तव्य के विपरीत है। पद्य का अनुवाद पद्य ही में होना चाहिए था।

अतएव या तो भूमिका भारतेन्दु जी की लिखी नहीं है और या फिर प्राप्य अंश उनके द्वारा किया हुआ नहीं है। अन्यथा दोनों में कथन की विभिन्नता के स्थान पर समानता होती। ऐसी दशा में प्राप्य अंश संदिग्ध है और उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए।[२]

भारतेन्दु द्वारा किया गया यह प्रथम अनुवाद माना गया है जो सन् १८६८ में हुआ था।

पाखण्ड-विडम्बन—यह *प्रबोध-चन्द्रोदय* नाटक के तीसरे अंक

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, भा० २, पृ० ६५।

२. "संवत् १६२५ वैशाख शुक्ला १ को उन्होंने यह अनुवाद आरंभ किया था पर केवल पहले अंक का विष्कम्भक मात्र लिखकर छोड़ दिया।"—भूमिका, रत्नावली नाटिका, बालमुकुन्द गुप्त, द्वि० संस्करण।

का अविकल अनुवाद है और बहुत सुन्दर है। अपनी माता *श्रद्धा* की खोज में *शान्ति करुणा* के साथ आती है और आत्महत्या करने को तैयार हो जाती है, परन्तु *करुणा* उसे ऐसा करने से रोकती है। इसी अवसर पर दिगम्बर जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त माननें वाले पात्र एक-एक कर प्रवेश करते हैं। वे सब अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते हैं और अन्त में सोम-पान कर कापालिक के चेले हो जाते हैं और श्रद्धा को खोजते हैं। जब उन्हें ज्ञात होता है कि श्रद्धा तथा धर्म तो *विष्णु-भक्ति* के पास हैं तो वे उन्हें खींचने का प्रयत्न करते हैं।

यहीं पर तीसरा अंक या *पाखण्ड-बिडम्बन* समाप्त होता है।

प्रबोध-चन्द्रोदय के पहले दो अंकों में बताया गया है कि *विवेक* की प्रबलता देखकर *मोह* अपने साथी *दंभ* के साथ काशी नगरी में अपना प्रभुत्व जमाने आया और *धर्म* एवं *श्रद्धा* में भेद डालने के लिए *मिथ्या दृष्टि* को भेजा। उसने *शान्ति* को भी बन्द कर लेने की आज्ञा दी।

भारतेन्दु ने इस अंक का अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में मूल के आधार पर ही किया है। इसका अनुवाद-काल सन् १८७२ है।

धनंजय-विजय—यह कांचन कवि कृत संस्कृत के नाटक का अनुवाद है। पाण्डवों के अज्ञातवास काल में राजा विराट की नगरी में जब दुर्योधन उनकी गायों को हर कर ले गया था तब राजकुमार उत्तर अर्जुन की सहायता से अपने पशुधन को वापिस लाने में सफल हुए थे। वही कथा इसमें वर्णित की गई है। वास्तव में यह एकांकी है।

भारतेन्दु जी का किया हुआ अनुवाद बहुत ही उत्तम और प्रामाणिक है। गद्य के स्थान गर पद्य और पद्य के स्थान पर पद्य है। मूल पुस्तक में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग है परन्तु अनुवादक ने सब का अनुवाद एक ही प्रकार के छंद में किया है जिससे अनुवाद में एक प्रकार की एकता आ गई है। मल में नान्दी के तीन श्लोक हैं.

परंतु अनुवादक ने केवल पहला श्लोक संस्कृत में देकर सूत्रधार के प्रवेश से अपना अनुवाद आरंभ कर दिया है। नाटक के अन्य स्थल मूल के अनुसार हैं। केवल अन्त में कार्य-व्यापार की समाप्ति पर महाराजा विराट के पूछने पर "किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि" अर्जुन उत्तर देता है—

निस्तीर्णोऽज्ञातवासो रणभुवि विजिता धार्तराष्ट्राः सकर्णाः
स्त्रीरत्नं त्वत्तनूजा समजनि तनयस्याभिमन्योः कलत्रम्।
गावः प्रत्याहृतास्ताः सुहृदपि परमस्त्वं च नः श्लाघनीय-
स्तज्जाने नैव किंचित्सुचिरमवमृशन्यन्मया प्रार्थनीयम् ॥८८॥

तथापीदमस्तु,

सौजन्यामृतसिन्धवः परहितप्रारम्भवीरव्रता,
वाचलाः परवर्णने निजगुणालापे च मौनव्रताः।
आपत्स्वप्यविलुप्तधैर्यनिचयाः सम्पत्स्वनुत्सेकिनो,
माभूवन्खलु वक्त्रनिर्गतविषम्लानाननाः सज्जनाः ॥८९॥

अपि च

सारस्वतं स्फुरतु चेतसि सत्कवीनां
चक्षुर्भवन्तु कृतिनो गतमत्सराश्च।
भूयाश्च सन्तु कविसूक्तिषु सानुरागाः
सन्त्यज्य मण्डलकविप्रणयानुरागम् ॥९०॥

इसका अनुवाद भारतेन्दु जी ने इस प्रकार किया है—

विराट—और भी मैं आप का कुछ प्रिय कर सकता हूँ?

अर्जुन—अब इससे बढ़कर क्या होगा?

शत्रु सुजोधन सों लही करन सहित रन जीत।
गाय फेरि लाए सबै पायो तुम सो मीत॥
लही बधू सुत-हित भयो सुख अज्ञात निवास।
तौ अब का नहिं हम लह्यो जाकी राखैं आस॥

तौ भी यह भरत वाक्य सत्य हो—

राजवर्ग मद छोड़ि निपुन विद्या में होई ।
आलस मूरखतादि तजैं भारत सब कोई ॥
पंडित गन पर-कृति लखि कै मति दोष लगावैं ॥
छुटै राज कर, मेघ समै पै जल बरसावैं ॥
कजरी ठुमरिन सों मोरि मुख, सत कविता सब कोउ कहै ।
हिय भोगवती सम गुप्त, हरि-प्रेम धार नित ही बहै ॥

और भी—

(यहाँ ८९ वाँ श्लोक मूल रूप में दे दिया गया है)

भारतेन्दु जी ने मूल पाठ के अनुवाद में जो अन्तर कर दिया है उसका कारण समझ में नहीं आता । यद्यपि वे सब स्थानों पर क्रम आदि की व्यवस्था में बड़े सतर्क रहे हैं परन्तु अन्त में तो यह अन्तर स्पष्ट है ।

एक बात और यह भी है कि छप्पय का उल्लाल उन्होंने अपनी ओर से रखा है । संभवतः अपने समय की कविता की हीन दशा को देखकर और संस्कृत के 'कविसूक्तिषु सानुरागाः' शब्दों की ध्वनि कानों में पड़ते ही वे तत्सम्बन्धी अपनी भावना को रोक न सके और उन्होंने कह ही दिया—कजरी और ठुमरी से कविता सच्ची कविता की ओर वेगवती हो यही आशीर्वाद दीजिए ।

ऊपर के अवतरण से भारतेन्दु जी के अनुवाद के विषय में भी कुछ परिणाम निकाला जा सकता है ।

इस व्यायोग का अनुवाद सन् १८७३ में हुआ था और यह पहले *हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन* में छपा था । उसके बाद सन् १८७४ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ ।

कर्पूर-मंजरी—इसका अनुवाद भी बहुत सुन्दर है और मूल के अनुसार है । *कर्पूरमंजरी* प्राकृत का नाटक है संस्कृत भाषा का नहीं ।

मुद्राराक्षस (सन् १८७८ ई०)—यह कवि विशाखदत्त के संस्कृत नाटक

का अनुवाद है। इसमें भी गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य है। भूमिका में अनुवादक ने 'पूर्व-कथा' के नाम से नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी दे दी है। 'पूर्वकथा' बड़े परिश्रम से लिखी गई है और भारतेन्दु की इतिहास-अध्ययन-प्रियता की सूचक है। कुछ विवादास्पद समस्याओं की विवेचना उन्होंने 'उपसंहार' में की है।

अनुवाद बहुत सुन्दर है और पढ़ने में मौलिकता का अनुभव कराता है। प्रस्तावना के आरंभ में—

> भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
> जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।

जो दोहा है वह अनुवादक की ओर से है। अन्त में 'भरत-वाक्य' के रूप में मूल संस्कृत को ही उद्धृत कर दिया है।

भारतेन्दु ने कुछ सुझाव भी रखे हैं। उन्होंने कुछ गीतों की रचना की है जो उपसंहार में संगृहीत हैं। भारतेन्दु का कहना है कि प्रत्येक दो अंकों के बीच में यदि ये गीत गाये जावें तो राजनीतिक चालों के कारण नाटक के कार्य-व्यापार में जो शिथिलता और एक-रसता दिखाई देती है वह सुगमता से मिट जावेगी। उनका कथन व्यावहारिक दृष्टि से बिलकुल सत्य प्रतीत होता है।

मुद्राराक्षस हिन्दी गद्य की व्यंजना-शक्ति और भारतेन्दु की गद्य-दक्षता का निर्विवाद उदाहरण है।

ऊपर जिन नाटकों का उल्लेख किया गया है वे सब संस्कृत के अनुवाद हैं, केवल *कर्पूर-मंजरी* प्राकृत का अनुवाद है। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु ने शेक्सपियर के Merchant of Venice का भी अनुवाद किया है जिसका नाम उन्होंने *दुर्लभ-बन्धु* रखा है।

दुर्लभ-बंधु (सन् १८८० ई०)—इस अनुवाद के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। जब सन् १८८० में यह *हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका* और *मोहन-चन्द्रिका* में प्रकाशित हुआ तो वहाँ पर एक नोट में लिखा है—

"निज बंधु बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बँगला पुस्तक *सुरलता* की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा।" इस सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि बा० बालेश्वर प्रसाद का ही यह अनुवाद है परन्तु यह धारणा उचित नहीं प्रतीत होती। बा० बालेश्वर प्रसाद जी ने इसका एक अनुवाद *वेनिस का सौदागर* नाम से किया जो *काशी-पत्रिका* में छपा और जिसका उल्लेख भारतेन्दु ने अपने '*नाटक*' में किया है। यह अवश्य है कि भारतेन्दु ने इतनी अंगरेज़ी न जानने के कारण एक अंगरेज़ी बी० ए० से अनुवाद में सहायता ली हो। उनका अनुवाद अपूर्ण रह गया था और, बा० ब्रजरत्नदास के अनुसार, पं० रमाशंकर व्यास तथा बा० राधाकृष्ण दास ने उसे पूर्ण कर प्रकाशित किया।

अनुवाद स्वतंत्र है। उसमें अधिकांश गद्य है। शेक्सपियर के Blank Verse (अभिन्नाक्षर छन्द) का प्रयोग नहीं है, केवल शुद्ध कविता का अनुवाद पद्य में अवश्य है।

भारतेन्दु ने मूल नाटक के पात्रों का नामकरण भारतीय ढंग से कर दिया है। शेक्सपियर के Shylock, Bassanio Antonio, Portja, Lorenzo और Jessica क्रमशः शैलाक्ष, बसन्त, अनन्त, पुरश्री, लवंग, जसोदा आदि बन गये हैं। परन्तु कहीं भी मूल नाटककार के भावों या विचारों की अवहेलना नहीं की गई। उसकी चिंतनधारा को यथाशक्ति सुरक्षित रखा गया है।

अंगरेज़ी भाषा के नाटकों के अनुवाद का यह पहला प्रयास बहुत ही सफल और सराहनीय है।

भारतेन्दु बड़े उच्च कोटि के अनुवादक थे। अपने अनुवादों में उन्हें अपनी मौलिकता दिखाने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु यदि कभी कोई स्थान मिल गया तो वहाँ पर वह चूके नहीं। जिस स्थान पर उन्होंने ऐसा किया उसमें निस्सन्देह सौंदर्य

की अभिवृद्धि हुई । मूल भावों की रक्षा करने के लिए और नाटक के वातावरण को बनाये रखने के लिए यदि उन्हें कभी अपने अतिरिक्त किसी अन्य कवि के छन्दों की आवश्यकता दिखाई दी तो उन्होंने उनका उपयोग करने में कोई संकोच नहीं किया। *कर्पूर-मंजरी* में देव और पद्माकर के कवित्त-सवैये इसके द्योतक हैं।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था यह बात तभी समझ में आ सकती है जब मूल और अनुवाद को मिलाकर देखा जाय। अनुवादों के मूल में जो प्रेरणा है वह बिलकुल स्पष्ट है।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझते थे कि अपनी प्राचीन संस्कृति और काव्य-परम्परा की रक्षा तभी हो सकती है जब जनता के समक्ष उसके उदाहरण रखे जायँ। अपने अतीत के आदर्श को सामने देखकर ही लुप्तप्राय विद्या के पुनरुद्धार की आशा की जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने चुन-चुन कर ऐसे नाटकों और दृश्यों का अनुवाद किया जो काव्य-दृष्टि से उत्कृष्ट भी हों और रुचि उत्पन्न करने में सहायक भी। साथ ही साथ उन्हें यह भी ध्यान रहा कि जनता की तत्कालीन रुचि को एक दम पलट देने का कार्य असंभव है, अतएव उनकी इच्छाओं से मिलती जुलती चीजें ही उन पर अधिक प्रभाव डालने में सफल होंगी। *मुद्रा-राक्षस* को उन्होंने राजनीतिक चालों के कारण अपनाया; *धनंजय-विजय* में महाभारत का एक प्रसिद्ध आख्यान था, *पाखण्ड-विडम्बन* में भारतीय दार्शनिकता का धार्मिक पुट था; *रत्नावली* जनता की शृंगार-प्रियता के लिए उपयुक्त सामग्री थी; *कर्पूर-मंजरी* चार अंकों का एक 'सट्टक' है जिसमें कल्पित कथा के आधार पर राजमहलों की ईर्ष्या और राजाओं की प्रवृत्ति की झाँकी दिखाई गई है; और *दुर्लभ-बन्धु* अंगरेजी का रूपान्तर है। अंगरेजी का प्रभाव उनके समय स्पष्ट हो चला था और वे यह देख चुके थे कि उनके समीपवर्ती प्रान्त बंगाल

के साहित्य और रहन-सहन पर पाश्चात्य सभ्यता और विचार-धारा का क्या परिणाम हो चुका था।

अतएव एक दूरदर्शी नेता के रूप में उन्होंने जनता की माँग की भी पूर्ति की और भविष्य के लिए उचित परम्परा की व्यवस्था भी।

भारतेन्दु के अनुवादों की सफलता का उचित अंकन निम्न अंशों से हो सकेगा।

(१) विद्याधर—(इन्द्र से)

हेषघोषैर्हरीणां जितघननिनदैर्बृंहितैः कुञ्जराणां,
ज्याघातोत्थैर्निनादैः पटुपटहरवैर्मन्दलोद्दामशब्दैः।
प्राप्तैः कर्णोपकण्ठं मदगजनिवहस्कन्धघण्टाप्रणादैः,
शृंगाराय त्वरन्ते त्रिदशमृगदृशो वीरवर्गानुरक्ताः॥
हय हिनहिनात अनेक गज रस खाइ घोर चिकारहीं।
बहु बजहिं बाजे मारु धरु धुनि दपटि वीर उचारहीं॥
टंकार धनु की होत घंटा बजहिं सर संचारहीं।
सुनि सबद रन को बरनपति सुरबधू तन सिंगारहीं॥

—धनंजय-विजय, श्लोक ५१

(२) कापालिक—(क्षपणक से) सुनो—

दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता,
जीवस्याः स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्था कथं प्रार्थ्यते।
पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो,
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूड वपुरित्यूचे मृडानीपतिः॥
है न कछू बिन भोग के या जग, कौन जो दूसरो सुक्ख बतावै।
मानि के वेद न जानहिं छाँड़िकै ह्वै पथरा निज मुक्ति बनावै॥
पारवती सम प्यारिन सों विहरै रति मैं मुख सों मुख लावै।
ह्वै शिव नाचै अनंद भरो जग मैं सुख सों निज काल बितावै॥

प्रबोध-चन्द्रोदय, अंक ३, श्लोक १६

(२) राक्षस—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधो हृदयमिव नाशेन सुहृदाम् ।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः ॥११॥
क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां,
रुजां कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः ।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेश कृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः ॥१२॥

नसे विपुल नृप-सरिस बड़े बड़े गृह-जाल ।
मित्र नास सों साधुजन-हिय सम सूखे ताल ॥
तरुवर भे फलहीन जिमि बिधि बिगरे सब नीति ।
तृन सों लोपी भूमि जिमि मति लहि मूढ़ कुरीति ॥
तीछन परसु प्रहार-सों कटे तरोवर-गात ।
रोअत मिलि पिंडुक सँग ताके घाव लखात ॥
दुखी जानि निज मित्र कहँ अहि मनु लेत उसास ।
निज केंचुल मिस धरत हैं, फाहा तरु-व्रन पास ॥

—मुद्राराक्षस, छठा अंक.

(आ) रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु के नाटकों में तीन नाटक ऐसे हैं जिनमें उनकी मौलिकता भी है और अन्य नाटकों की छाया भी वर्तमान है। ऐसी अवस्था में उन्हें बिलकुल मौलिक नहीं कहा जायगा और न वे अनुवाद की सूची ही में आ सकते हैं। उन्हें रूपान्तरित (Adaptations) कहना अधिक न्यायसंगत होगा।

विद्या सुन्दर—(सन् १८६८) इस नाटक की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में भारतेन्दु ने लिखा है :—

"विद्या-सुन्दर की कथा बंग देश में अति प्रसिद्ध है।.........प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है।.........महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो विद्या-सुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है।"

इस कथन में भारतेन्दु स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनकी रचना बिलकुल मौलिक नहीं है। पुराना अधिक होने के कारण मूल बंगाली नाटक प्राप्त नहीं हो सका, अन्यथा दोनों का मिलान करने से पता चल जाता कि भारतेन्दु के नाटक में कितनी मौलिकता है और कितना रूपान्तर। इस नाटक को पढ़ने से यह अवश्य प्रतीत होता है कि *विद्या-सुन्दर* उसकी सुन्दर रचना नहीं है। वस्तु-विन्यास, कार्य-व्यापार और घटनाओं के गति-विकास में अपरिपक्व नाटक-कला स्पष्ट दिखाई देती है। भाषा में भी वह गठन और प्रांजलता नहीं जो भारतेन्दु के अन्य नाटकों में है। प्रथम अंक के पहले गर्भांक में ही राजा अपने गंगा भाट को गुणसिन्धु राजा के पुत्र को अपने साथ लाने के लिए भेजते हैं। परन्तु गंगा भाट के वहाँ पहुँचने के पहले ही न जाने किस समाचार के आधार पर, सुन्दर पहले से ही वर्धमान के राजा की नगरी में पहुँच जाता है और गंगा भाट के वापिस आने से पहले ही विद्या और सुन्दर का मिलन भी हो जाता है। पहले गर्भांक के बाद इन गंगा भाट के शब्द हमें अंतिम चौथे अंक के दूसरे गर्भांक में 'नेपथ्य में' सुनाई पड़ते हैं। इस समय तक तो सुन्दर को छद्म वेश में विद्या से मिलने के कारण कारावास का दंड भी दिया जा चुका था। पता नहीं चलता अकस्मात् कहाँ से ये सुनाई देने लगते हैं:—

"अरे राजकाज के लोगों ने बड़ा बुरा किया कि बिना पहिचाने कांचीपुर के महाराज गुणसिंधु के पुत्र राजकुमार सुन्दर को कारागार

में भेज दिया। क्या किसी ने उसे नहीं पहिचाना ? मैं अभी जाकर महाराज से कहता हूँ कि यह तो वही है जिसके बुलाने के हेतु आपने मुझे कांचीपुर भेजा था।"

और अगले गर्भांक में भाट जी महाराज राजा के सामने यह सत्य प्रगट करते हैं। सुन्दर को दंड से वंचित किया जाता है तथा विद्या के साथ उसका विवाह हो जाता है।

गंगा भाट को किस प्रकार इन घटनाओं का पता चला और उन्होंने अपने दूतत्व का किस प्रकार उपयोग किया आदि प्रसंगों पर नाटक में किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता।

इसी से यह कहना पड़ता है कि *विद्या-सुन्दर* उच्च कोटि की रचना नहीं कहला सकती।

सत्य-हरिश्चन्द्र (सन् १८७४)—यह भारतेन्दु की बड़ी प्रसिद्ध और प्रौढ़ रचना है। इस नाटक के 'उपक्रम' में भारतेन्दु ने हरिश्चन्द्र के उपाख्यान की सामग्री का कुछ विस्तृत उल्लेख किया है परन्तु अपने नाटक के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

सत्य-हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ मत-भेद है। बाबू श्यामसुन्दर दास और बाबू ब्रजरत्नदास इसे भारतेन्दु की मौलिक रचना मानते हैं और शुक्ल जी ऐसा नहीं करते। बाबू श्यामसुन्दर दास जी का मत है:—

"कुछ लोगों का कहना है कि यह क्षेमीश्वर के चंड-कौशिक नाटक का छायानुवाद है। पर उसमें और इसमें कई बातों में अन्तर है। *सत्य-हरिश्चन्द्र* में नाटक का आरंभ इन्द्र के द्वेषभाव से होता है। वही विश्वामित्र को उत्तेजित करके राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने और उन्हें धर्मच्युत करने के लिए उद्यत करता है। पर *चंडकौशिक* में राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को एक कन्या का बलिदान देते देखकर उनकी भर्त्सना करते हैं और विश्वामित्र के शाप देने पर समस्त पृथ्वी का दान देकर उस शाप से मुक्ति पाते हैं। पौराणिक काल में सब ऋषियों और तपस्वियों के तपोभंग

का मूल कारण इन्द्र ही बताया गया है और उसी आधार पर भारतेन्दुजी ने भी इस नाटक की घटनाओं को खड़ा किया है। इस नाटक का उद्देश्य राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-प्रतिज्ञा की महिमा दिखाना है। वे भाँति-भाँति के कष्ट सहते हैं और उनकी विकट परीक्षा होती है पर वे अपने निर्धारित पथ से डिगते नहीं, उस पर दृढ़ रहते हैं और अन्त में परम-पद पाते हैं। इस प्रकार *सत्य हरिश्चन्द्र* और *चंडकौशिक* के मूल आधार में ही बड़ा अन्तर है, अतएव एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है।"[१]

बाबू ब्रजरत्नदास *सत्य-हरिश्चन्द्र* के आख्यान तथा नाटक के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"यद्यपि भारतेन्दु जी का *सत्य-हरिश्चन्द्र* नाटक इन दोनों (क्षेमीश्वर कृत *चंडकौशिक* और रामचन्द्र कृत *(सत्यहरिश्चन्द्रनाटकम्)* में से किसी का पूरा अनुवाद नहीं है पर प्रथम का कुछ भाग इसमें अनूदित करके लिया गया है। इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और उसमें कुछ हेर फेर कर सभी नाटकों की रचना हुई है।"[२]

'*चंडकौशिक का आधार*' शीर्षक प्रसंग में व्याख्या करते हुए वह आगे कहते हैं—

"*सत्य हरिश्चन्द्र चंडकौशिक* का अनुवाद कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि कथावस्तु में घटना-परिवर्तन कर दिया गया है।"[३]

शुक्लजी ने अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया।

स्वयं भारतेन्दु ने अपने नाटक के विषय में केवल इतना लिखा है कि—

"इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा

---

१. भारतेन्दु नाटकावली—सं० श्यामसुन्दरदास, प्रस्तावना पृ० ५२-५३.

२. भारतेन्दु नाटकवली (भाग १) सं० ब्रजरत्नदास, भूमिका पृ० ३८।

३. भारतेन्दु नाटकवली (भाग १) सं० ब्रजरत्नदास, भूमिका, पृ० ४३।

माहिपाल देव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चंड कौशिक नामक नाटक इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया।"[१]

अपनी पुस्तक के इसी उपक्रम में उन्होंने हरिश्चन्द्र तथा विश्वामित्र की कथा के अनेक उद्गमों का वर्णन किया है परन्तु अपने नाटक के सहायक ग्रन्थों के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया।

अब प्रश्न यह है कि मौलिक रचना किसे कहा जाय ?

यदि कथा-वस्तु की नवीनता मौलिकता की द्योतक है तब तो भारतेन्दु के नाटक और चंडकौशिक में भेद स्पष्ट है। चंडकौशिक में कथा इस प्रकार है—

अनेक प्रकार के विघ्नों की शान्ति के लिए महाराज हरिश्चन्द्र को उनके आचार्य ने कुछ नियमों का पालन करने की अनुमति दी। ऐसा करने में राजा को एक रात जागरण करना पड़ा। अगले दिन प्रातः होते ही पति की आलसभरी आँखों को देखकर महारानी शैव्या को क्रोध आया परन्तु उसी समय तापस शान्ति जल ले आया। तब शैव्या की समझ में सारा रहस्य आया और उन्होंने क्षमा माँगी।

(पहला अंक)

इधर विघ्नों के भय से व्याकुल राजा हरिश्चन्द्र अपना मनोविनोद करने के लिए शिकार को चले गए। वन में विश्वामित्र जी अपने आश्रम में बैठे तीनों महाविद्याओं को वशीभूत करने के हेतु यज्ञ कर रहे थे। और विघ्नराट उसमें विघ्न डालना चाहता था। संयोग-वश राजा हरिश्चन्द्र उसका साधन बन गए। ज्यों ही हरिश्चन्द्र ने महाविद्याओं का चिल्लाना सुना, वह स्त्री की रक्षा के लिए अपना शिकार छोड़ कर आश्रम में पहुँचे। नेपथ्य से विश्वामित्र और तीनों महाविद्यायें भी आईं। राजा ने अभी विश्वामित्र का

१. हरिश्चन्द्र नाटक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत, उपक्रम में।

क्रोध देखा नहीं था। उसे देखते ही वह उन्हें पहचान गया और उनके पैरों पर गिर पड़ा यह कहते हुए कि उसने स्त्रियों की चिल्लाहट सुनकर केवल क्षत्रिय-धर्म-पालन-हेतु ही ऐसा किया था। इस स्थिति में वाग्जाल फैला कर हरिश्चन्द्र का सारा राज्य और एक लाख स्वर्ण मुद्रा माँग ली जाती हैं।

(दूसरा अंक)

सस्त्रीक अपने को बेच कर राजा दक्षिणा का ऋण चुका देते हैं। शैव्या और रोहिताश्व एक ब्राह्मण के हाथ बिकते हैं और राजा एक श्वपच के हाथ।

(तीसरा अंक)

तत्पश्चात् हरिश्चन्द्र अपनी पूर्व बीती कहते हैं और श्मशान का वर्णन करते हैं। तभी कापालिक आता है और विघ्नों को हटाने की प्रार्थना करता है। हरिश्चन्द्र के कहने से विघ्न दूर होते हैं। फिर तीनों महाविद्यायें आती हैं जिन्हें राजा विश्वामित्र के पास भेज देते हैं। कापालिक भी अपनी साधना पूरी करता है और महानिधान देने की प्रतिज्ञा करता है। राजा अपने स्वामी के कार्य में लगते हैं।

(चौथा अंक)

रोहिताश्व के शव को लेकर शैव्या आती है। राजा अपने धर्म का पालन करते हैं। अन्त में धर्म आकर शान्ति स्थापित करते हैं।

(पाँचवाँ अंक)

भारतेन्दुकृत नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है—

अयोध्या से लौटते हुए नारदजी इन्द्र की सभा में गये और राजा हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता एवं अन्य गुणों की प्रशंसा करने लगे। ईर्ष्या वश इन्द्र ने राजा की सत्य-परीक्षा में नारद जी की सहायता चाही। नारद जी ने ऐसा क्षुद्र कार्य करने के लिए इन्द्र को मना किया कि इसी बीच में विश्वामित्र जी वहाँ पहुँच गए और प्रतिज्ञा कर डाली—

'जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं।'

(पहला अंक)

राजा और रानी ने बुरे बुरे स्वप्न देखे। रानी ने महाराज को सारे अंग में भस्म लगाये, अपने को बाल खोले और रोहित को साँप द्वारा काटा गया देखा। उधर राजा ने देखा—'कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्यासाधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया।' इन स्वप्नों की शान्ति हो रही थी कि वही ब्राह्मण विश्वामित्र अयोध्या पहुँचे और राज्य के दान के साथ-साथ दक्षिणा भी माँगी। राजा ने वचन दिया—

'बेंचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद।'

(दूसरा अंक)

अपने वचन का पालन करने के लिए राजा परिवार सहित त्रैलोक्य से न्यारी नगरी काशी में आकर दक्षिणा के आधे अंश के लिए अपनी स्त्री और पुत्र तथा आधे के लिए अपने को बेचने पर विवश हुए। पहला अंश एक ब्राह्मण से मिला और दूसरा एक श्वपच डोम से।

(तीसरा अंक)

श्मशान में टहलकर राजा शवों को जलानेवालों से कर लेने का काम करने लगे। एक दिन सर्प-दंशन के कारण मरे हुए रोहित को लेकर शैव्या उसे जलाने आई। पहले तो राजा बिना जाने ही उसे देखकर व्याकुल हो उठा पर फिर पहचान कर भी उसने अपना कर्तव्य पालन करते हुए उससे आधा कफन माँगा।

ऐसी सत्यनिष्ठा देखकर स्वयं भगवान नारायण, शिव, विश्वामित्र आदि सब प्रगट होते हैं। रोहित जी उठता है। सब राजा की

सराहना करते हैं और वर माँगने के पश्चात् नाटक समाप्त हो जाता है।

(चौथा अंक)

ऊपर दिए हुए संक्षिप्त कथानक से यह स्पष्ट पता चलता है कि *चंडकौशिक* और *सत्य हरिश्चन्द्र* के आख्यान एवं उनके नाटकीय विकास में समानता भी है और विभिन्नता भी।

विभिन्नता दोनों में यह है कि *चंडकौशिक* में पाँच अंक हैं और *सत्य-हरिश्चन्द्र* में केवल चार। दोनों का आदि और अन्त पृथक् है। *चंडकौशिक* की कुछ घटनायें—राजा, रानी और विदूषक की बातें, विघ्नराट का वराहरूप धारण करना, विश्वामित्र का तप करना, दो चांडालों द्वारा हरिश्चन्द्र का श्मशान में ले जाया जाना, मृतवत्सा की सूचना तथा रोहिताश्व का अभिषेक—*सत्य-हरिश्चन्द्र* में नहीं हैं।

इसी प्रकार *सत्य-हरिश्चन्द्र* की कुछ घटनायें—इन्द्रसभा और उसमें नारद तथा विश्वामित्र का आना, राजा और रानी का पृथक् पृथक् स्वप्न देखना, सिद्धियों का लालच दिखाना और हरिश्चन्द्र को आकाशवाणी द्वारा सचेत करना, रानी का फाँसी लगाकर मरने के लिए उद्यत होना तथा शिव आदि देवताओं का प्रवेश—*चंडकौशिक* में दिखाई नही पड़तीं।

समानता की दृष्टि से राजा तथा विश्वामित्र की दक्षिणा सम्बन्धी बातचीत आरंभ होने से लेकर अंत तक का कथा-भाग और उसका विस्तार प्रायः एक-सा है।

तुलना करने से यह अवश्य प्रतीत होता है कि आर्य क्षेमीश्वर का उद्देश्य विश्वामित्र के चरित्र को प्रधानता देना है और भारतेन्दु का लक्ष्य हरिश्चन्द्र के चरित्र को। अतएव जैसा बा० श्यामसुन्दरदासजी का मत है, दोनों के मूल आधार में बड़ा अन्तर है। हाँ, यह अवश्य है कि दोनों का पर्याप्त अंश एक-सा है, बल्कि वास्तव में *सत्य-हरिश्चन्द्र*

चंडकौशिक का उस सीमा तक अनुवाद है, जैसा नीचे के उद्धरणों से पता चलेगा—

चंडकौशिक

१. आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि शाश्वतम् ।
यस्मिन्न रक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम् ॥ पृ० ६४ ॥

सत्य-हरिश्चन्द्र

बेंचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद ।
रखिहै निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥

२. राजा—(ससम्भ्रमं पादयोर्निपत्य) भगवन् प्रसीद, प्रसीद, मर्षय मर्षय ।
अस्तं रवावसम्प्राप्ते यदि नाप्नोषि दक्षिणाम् ।
शापार्हो वा वधार्हो वा स्वाधीनोऽयं जनस्तव ॥ पृ० ६८ ॥

हरिश्चन्द्र—(पैरों पर गिरकर) भगवन् क्षमा कीजिए । यदि आज सूर्यास्त के पहले न दूँ तो जो चाहे कीजिएगा । मैं अभी अपने को बेचकर मुद्रा ले आता हूँ ।

३. भृंगी—यस्याद्भुतं कथयतश्चरितं भवस्य
रोमांचभिन्नकणभस्मघनाङ्गयष्टेः ।
ज्यावलितभ्रु नयनत्रयमाविरासीद्
वेल्लच्छशांकशकलश्चपलश्चमौलिः ॥ पृ० ६० ॥

भैरव—आज जब भगवान भूतनाथ राजा हरिश्चन्द्र का वृत्तान्त भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गये और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग हो गए ।

४. राजा—(दृष्ट्वा साश्चर्यमात्मगतम्) कथमियास्ता भगवत्यो विद्याः ! यासु भगवतो विश्वामित्रस्यापि तीव्रैस्तपोभिरवसन्नम् । (प्रकाशम् अञ्जलिं बध्वा) नमस्त्रिलोकविजयिनीभ्यो विद्याभ्यः ।

विद्याः—राजन् त्वदायत्ता वयं, अतस्त्वं शाधि नः ।

राजा—यदि मामनुग्राह्यं भवत्योऽनुमन्यते, ततो भगवन्तं कौशिकमुपतिष्ठध्वं

ततोऽनपराद्धं मुनेरात्मानं समर्थयामि !

विद्याः—(सविस्मयं परस्परमवलोक्य) राजन् एवमस्तु ।

(इति निष्क्रान्ताः) पृ० ११०-१११ ।

हरिश्चन्द्र—(आप ही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पन्न, पालन और नाश करने वाली महाविद्या हैं जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके । (प्रकट हाथ जोड़ कर) त्रिलोक-विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है ।

महाविद्या—महाराज हम लोग तो आपके बस में हैं । हमारा ग्रहण कीजिए ।

हरि०—देवियो ! यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वश-वर्तिनी हो । उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है ।

महा०—धन्य महाराज ! धन्य ! जो आज्ञा ।

(जाती हैं)*

इस तुलना से हम यही परिणाम निकालते हैं कि कुछ अंश *सत्य-हरिश्चन्द्र* में *चंडकौशिक* से अनुवाद करके रखे गए हैं। अपनी सम्पूर्ण स्थिति में *सत्यहरिश्चन्द्र* न तो एकदम मौलिक ही है और न बिलकुल अनुवाद ही । यदि हम उसे 'रूपान्तरित' मान लें तो किसी प्रकार के विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता । अनेक नाटककारों ने अपने आख्यानों और अनेक घटनाओं को दूसरे स्थानों से लेकर अपने नाटक में सजाया है। शेक्सपियर के प्रायः सभी नाटक ऐसे हैं। परन्तु केवल इस कमी के लिए उनका आदर अंगरेजी साहित्य में कभी कम नहीं हुआ । जीवन के अनुभवों को अपने उद्देश्य के अनुकूल कहीं से भी लेकर सजाने में लेखक की मौलिकता ही प्रकट होती है उसका कोई दुर्गुण नहीं । *चंडकौशिक* के कुछ अंशों के

---

* संस्कृत के चंडकौशिक की पृष्ठसंख्या पं० जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित तथा कलकत्ते से प्रकाशित सन् १८८४ ई० की प्रति के अनुसार है ।

अनुवाद का संकलन तथा समावेश भी *सत्य-हरिश्चन्द्र* के महत्त्व को कम नहीं करता।

अतएव कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य और इन सब के विकास एवं प्रतिपादन को देखकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *सत्य-हरिश्चन्द्र* मौलिक रचना न होकर रूपान्तरित रचना है जिसमें लेखक की मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम।

(इ) मौलिक नाटकीय रचनायें

प्रेम जोगिनी (१८७५)—यह एक अपूर्ण नाटिका है जिसका विषय काशी नगरी के धार्मिक समाज में प्रचलित पाखण्ड का प्रदर्शन है। इसमें चार गर्भांक हैं। पहले में 'मन्दिरादर्श' के रूप में गुसाइयों और भले आदमियों में पाया जाने वाला अनाचार बड़ी सजीव और प्रभावशाली भाषा में व्यक्त किया गया है। दूसरा गर्भांक 'गैबी-ऐबी' नाम से अलंकृत है। काशी में दो स्थान बड़े प्रसिद्ध हैं। एक छोटी गैबी कहलाता है और दूसरा बड़ी गैबी। सायंकाल के समय प्रायः काशी निवासी यहाँ एकत्रित होते थे। अपनी आँखों देखा इन्हीं जमावड़ों का चित्र इस दृश्य में अंकित किया गया है। इसमें दलाल, गंगापुत्र, भंडेरिया, गुंडा, यात्री और मुसाहिब—काशी के विशिष्ट निवासियों के यथातथ्य चित्र अंकित किए गए हैं। आरंभ में अधिकतर कविता-बद्ध वार्तालाप है परन्तु है यह कविता बड़ी ही जीवनदायिनी। तीसरे गर्भांक का नाम 'प्रतिच्छवि वाराणसी' है। मुगलसराय स्टेशन का दृश्य है। भारतेन्दु के समय में यहीं रेल समाप्त हो जाती थी। गंगा का पुल नहीं बना था। काशी के यात्रियों के लिए पंडे लोग कितने व्यग्र रहते हैं और परदेशी यात्रियों को काशी के सम्बन्ध में कैसी विचित्र धारणायें बनाने का अवकाश देते हैं—यही इसमें दिखाया गया है। दलाल की 'पारिभाषिक भाषा' देखकर आजकल का पढ़ा लिखा भी

दाँतों तले उँगली दबा लेगा। चौथे गर्भांक का नामकरण 'घिस्सघिस द्विज कृत्य निकर्तक दृश्य' है। इसमें काशीवासी दाक्षिणात्यों का चित्र-खींचा गया है और इसीलिए इसके पात्रों की भाषा हिन्दी और मराठी दोनों हैं। भाँग बूटी और भोजन की चिंता इन लोगों को किस प्रकार बनी रहती है यह इस दृश्य में दिखाया गया है। साथ ही इसमें शास्त्र की विवेचना भी है।

संक्षेप में *प्रेमजोगिनी* में चार अलग-अलग दृश्य हैं। कोई कथावस्तु नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन का चित्रमय प्रदर्शन इस अपूर्ण नाटिका में वर्तमान है। वास्तव में हिन्दी नाटकों में 'वास्तविकता' अथवा 'यथार्थ' (Realism) का सर्वप्रथम उद्योग यहीं से मानना चाहिए। पता नहीं उस समय भारतेन्दु के मस्तिष्क में क्या विचारधारा काम कर रही थी। यदि वह अपना नाटक सम्पूर्ण कर पाते और इसमें इतिवृत्त सुन्दर रूप में वर्तमान होता तो निर्विवाद *प्रेमजोगिनी* एक उत्कृष्ट और आदर्श यथार्थवादी नाटक कहलाता। इसमें पात्रों का चरित्र-चित्रण और वह भी उन्हीं की स्थानीय बोलचाल की भाषा में बड़े सुन्दर रूप में हुआ है।

चन्द्रावली (१८७६)—यह भी एक नाटिका है। इसमें चार अंक हैं—गर्भांक एक भी नहीं है। नान्दी के बाद विष्कम्भक और दूसरे अंक के अन्तर्गत एक अंकावतार है। इस पुस्तक के समर्पण में भारतेन्दु ने कहा है—"इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।"

मुख्य विषय भगवद्भक्ति है और शृंगार रस प्रधान है। विप्रलम्भ शृंगार की अधिकता है और वैसे भी कविता की मात्रा पर्याप्त है। भारतेन्दु ने स्वयं इसका उद्देश्य इस प्रकार बता दिया है—

> काव्य सुरस सिंगार के, दोउ दल, कविता नेम।
> जग-जन सों कै ईस सों, कहियत जेहि पर प्रेम॥

हरि-उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता ज्ञान
सोधैं जग-जन मानि या चंद्रावलिहि प्रमान ॥

रस-परिपाक की दृष्टि से नाटिका अत्यन्त उत्तम है। इससे अच्छा प्रेम-नाटक हिन्दी में मिलना कठिन है।

भारत-जननी (१८७७)—भारतेन्दु ने इसे औपेरा (Opera) कहा है और वास्तव में यह है भी ऐसा ही। इसे नाटक कहना व्यर्थ है। इसमें एक ही दृश्य है और सारा कार्य-व्यापार उसी में आरंभ होकर समाप्त हो जाता है।

यह भारतेन्दु की मौलिक राष्ट्र-प्रेम भावना से परिपूर्ण कृति है और सोते हुए भारतवासियों को जगाने के लिए नाटकीय उद्बोधन।

भारत-दुर्दशा (१८८०)—यह ६ अंक का नाटक है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलाते हुए उसकी वर्तमान बुरी अवस्था बताकर भारत के उद्धार की प्रेरणा दी गई है। राजनीतिक वातावरण को नाटकीय रूप देने का यह प्रथम प्रयास है। *भारत, भारत-दुर्दैव, भारत-दुर्दशा, सत्यानाश, निर्लज्जता, मदिरा, अंधकार, रोग आदि* इसके पात्र हैं।

वास्तव में यह *प्रबोध-चन्द्रोदय* वाली सांकेतिक परम्परा का नाटक है जिसमें पात्रों का मानवीकरण (Personification) कर दिया गया है। भारतेन्दु की भाषा में कितनी शक्ति हो गई थी और वह अपने भावों को कितनी स्वतंत्रता और निर्भीकता से प्रदर्शित कर सकते थे इसका उदाहरण *'भारत-दुर्दशा'* नाटक है। प्रत्येक पंक्ति में अनोखा काव्य है जो भारत की दुर्दशा के इतिहास, विदेशियों की नीति और भारतवासियों की मूर्खता पर प्रकाश डालता है। *अंधकार* और *भारत-दुर्दैव* के वार्तालाप में इस अंश को देखिये :—

अंधकार—हमारा सृष्टिसंहारकारक भगवान तमोगुण जी से जन्म है। चोर, उल्लूक और लंपटों के हम एक मात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा,

शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अंधेरे के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है। चलें देखें क्या कहते हैं। (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो। कहिए क्या अनुमति है ?

भारत दुर्दैव—आओ मित्र ! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से लोग भारत-विजय को भेजे हैं पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहीं जाना होगा।

अंधकार—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है; कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारत दुर्दैव—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं; अभी वहाँ त्रेता, द्वापर हैं।

अंधकार—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जा ही के क्या करूँगा ! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी !

भारतदुर्दैव—हाँ, तो तुम हिन्दुस्तान में जाओ और जिस में हमारा हित हो सो करो। बस "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।"

अंधकार—बहुत अच्छा, मैं चला। बस जाते ही देखिए क्या करता हूँ।

नीलदेवी (१८८१)—यह एक वियोगान्त ऐतिहासिक गीति-रूपक है जिसमें दस दृश्य हैं। इस में मुसलमानों की चालाकी और नीचता का दृश्य है। अमीर अबदुश्शरीफ खाँ सूर राजा सूर्यदेव को पकड़ कर मरवा डालता है। यह सुनकर उनकी रानी नीलदेवी नर्तकी का भेष बना कर अमीर के खेमे में जाती है और जब सब शराब में मखमूर

हो जाते हैं तो उसकी छाती में छुरा भोंक कर अपने पति की हत्या का बदला लेती है।

यह भारतेन्दु का पहला वियोगान्त नाटक है जिसमें आर्य-ललनाओं के सामने अपनी तथा अपने पति की मर्यादा रखने के लिए वीर बनने का आदेश दिया गया है। इसकी भाषा अधिकतर उर्दू है क्योंकि इसके मुसलमान पात्र उसी को बोलते हैं। हिन्दू पात्रों की भाषा वही खड़ी बोली हिन्दी है। इसमें कई सुन्दर गीत हैं। "सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन" और "प्यारी बिन कटत न कारी रैन" तथा 'कहाँ करुनानिधि केसव सोए ?' आदि प्रसिद्ध गीत इसी नाटक में हैं। छोटा होते हुए भी पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ा सजीव और यथार्थ है।

सती-प्रताप (१८८३)—इसमें सावित्री-सत्यवान की कथा के आधार पर सती का प्रताप दिखाया गया है। भारतेन्दु इस नाटक को पूरा न कर सके और यह काम बाबू राधाकृष्ण दास को करना पड़ा। अतएव अपूर्ण नाटक के विषय में कहना व्यर्थ है।

प्रहसन

भारतेन्दु ने नाटकों के अतिरिक्त प्रहसन भी लिखे हैं। इनके लिखने का उद्देश्य मनोरंजन भी है और धर्म के नाम पर पाखण्ड का मूलोच्छेदन भी। काने को भी 'काना' कहने से काम नहीं बनता। वरन वह और बुरा मानता है। इसलिए समाज की बुराई को यदि केवल बुराई मात्र कहकर उससे आशा की जाय कि समाज भविष्य में उस बुराई को दूर कर देगा तो यह व्यर्थ है। अतएव व्यंग्य और वक्रता द्वारा इस प्रकार की बुराइयाँ प्रगट करना एक प्रकार की कला है और बहुत ही उच्च कोटि की है। इसमें साँप भी मर जाता है और लकड़ी भी नहीं टूटती।

भारतेन्दु ने तीन प्रहसन लिखे। पहला प्रहसन '*वैदिकी हिंसा*

हिंसा न भवति' (र० का० १८७३) है। इसमें मांस-भक्षी और शाकाहारियों का चरित्र दिखाया गया है। मांस-भक्षियों की सब से बड़ी धार्मिक दलील यह है कि धर्म-विहित हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती। अतएव वे यथाशक्ति अपनी इस प्रवृत्ति को न्याय-संगत ठहराने का प्रयत्न करते हैं। इसके नायक गृध्रराज हैं और बाकी उनके मंत्री, पुरोहित और चौबदार आदि हैं। प्रत्येक अपने-अपने मत की पुष्टि करता है। अन्त में सब का न्याय विचार यमराज के यहाँ होता है और वैष्णव तथा शैव भक्तों को छोड़कर सब को दण्ड दिया जाता है। भारतेन्दु के पात्रों की दलीलें इस प्रहसन में देखने ही योग्य हैं।

दूसरा प्रहसन '*विषय विषमौषधम्*' (र० का० १८७७) है। प्रसिद्ध है कि लोहा लोहे को काटता है। इसी प्रकार विष की औषधि विष ही है। इस में बड़ौदा नरेश मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी पर से उतारे जाने की घटना को आधार बनाया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार यह रूपक के एक भेद 'भाण' का नमूना है।

तीसरा प्रहसन '*अंधेर नगरी*' (सन् १८८१) है। इसमें ६ अंक हैं, गर्भांक एक भी नहीं। इस प्रकार यह ६ दृश्यों का प्रहसन है। यह प्रहसन एक ऐसे राजा के चरित्र को लेकर लिखा गया है जिसके राज्य में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। न्याय करने तक के समय मामले की जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता और दण्ड-विधान तो हर समय तैयार रहता है। वादी प्रतिवादी का प्रश्न ही नहीं होता। जैसा किसी ने कहा न्याय हो गया। इसी प्रकार वस्तु की उपज और खपत तथा उनके मूल्य आदि में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता। सब चीज टके सेर मिलती है, चाहे गुरु जी के खाने के लिए मिठाई पकवान ले लीजिए या चेला जी के लिए फल आदि।

कलात्मक दृष्टि से भारतेन्दु के केवल दो प्रहसन ही उच्च कोटि के हैं, '*वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति*' और '*अंधेर नगरी*'। दोनों की भाषा,

व्यंग्य की तीव्रता, पात्रों का चुनाव, वस्तु का विकास और शिष्ट हास्य अत्यन्त ही सराहनीय हैं। स्पष्ट पता चल जाता है कि भारतेन्दु हास्य और कौतुक पूर्ण रचनाओं के लिखने में भी वैसे ही दक्ष थे जैसे गंभीर कृतियों में।

भारतेन्दु और संस्कृत नाट्य शास्त्र और उनका निजी पथ-प्रदर्शन

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि थे। उनके पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों की रचना की। इनमें प्रमुख धनंजयकृत *'दश-रूपक'* तथा विश्वनाथकृत *'साहित्य-दर्पण'* हैं। मूल सिद्धान्तों में किसी आचार्य में विशेष भेद नहीं। सभी इसमें सहमत हैं कि नाटक के तीन तत्त्व प्रधान हैं—कथा-वस्तु, पात्र (नेता) और रस।

प्रत्येक तत्त्व को लेकर उन्होंने गंभीर परीक्षा की है और उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता, स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता एवं कलात्मकता आदि प्रसंगों का विवेचन सूक्ष्म रीति से किया है।

वस्तु-विषय को ध्यान में रखते हुए उसे प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। इसी प्रकार कार्य-व्यापार की दृष्टि से, स्थान और समय का समन्वय करते हुए, अर्थ-प्रकृति, कार्य-अवस्था, सन्धि तथा उनके अङ्गों का सांगोपांग विवेचन मिलता है।

पात्रों के सम्बन्ध में भी गंभीर गवेषणा है। स्वभाव, अवस्था, सामाजिक स्थिति, अधिकार तथा उत्तरदायित्व का ध्यान कर पात्रों का विवेचना की गई है। नायक और नायिकाभेद के अतिरिक्त जीवन में भाग लेने वाले अन्य पात्रों, सम्बन्धियों, कर्मचारियों, ऋषि, मुनि, विदूषक आदि सब के विषय में यथायोग्य चर्चा है। यहाँ तक कि इनकी भाषा के रूप और परस्पर सम्बोधन तक के लिए नियम निर्धारित कर दिये गये हैं।

रस और उसके अवयवों का तो जितना मनोवैज्ञानिक और पूर्ण विवेचन संस्कृत के आचार्यों ने किया है वैसा अन्यत्र असंभव है। समस्त

मानवी प्रकृति को मथकर ये जिन परिणामों पर पहुँचे हैं वे अकाट्य हैं। यही कारण है कि रस तत्त्व—स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—की समीक्षा के साथ उनके सहयोगी और विरोधी रसों तक का उल्लेख इन आचार्यों ने नहीं छोड़ा है। भारतीय परम्परा काव्य और नाटक (दृश्य-काव्य) में रस को ही मुख्य मानती है।

इन सब के अतिरिक्त नाटक (रूपक) के विभिन्न भेदों और उनके आवश्यक अंगों के लिए भी नियम निर्धारित किये गये हैं। नाटक का आरंभ कथावस्तु का विकास और उसका अन्त किस प्रकार होना चाहिए इस पर नाट्य-शास्त्र मौन नहीं है।

अभिनय-कला का महत्त्व भी इन आचार्यों की दृष्टि से बचने नहीं पाया। रंगमंच का निर्माण, उसमें दिखाये जाने वाले दृश्यों का पट-परिवर्तन, रंगमंच की सामग्री, दृश्य दिखाने की विधि, पात्रों की वेश-भूषा तथा स्थान-समीक्षा आदि ऐसा कोई प्रसंग नहीं जिस पर पूर्ण रूप से विचार न किया गया हो।

ये सब नियम और सिद्धान्त देश, काल और अवस्था के आधार पर बने हैं अतएव आवश्यक नहीं कि सब कालों और अवस्थाओं में उनका पालन किया जाय। भारतेन्दु ने अपनी आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन किये हैं और उनके कारणों का उल्लेख उन्होंने अपने नाटक निबन्ध में किया है।

जहाँ तक अनुवादित नाटकीय रचनाओं का सम्बन्ध है किसी प्रकार की विभिन्नता का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता क्योंकि अनुवादक को मूल में किसी प्रकार का परिवर्तन करने का अधिकार नहीं रहता। भारतेन्दु ने भी अपने अनुवादों में किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं ली है। सफल अनुवादक के नाते उन्हें ऐसा ही करना उचित भी था। अतएव इस दृष्टि से हमें उनकी मौलिक और रूपान्तरित नाटकीय रचनाओं पर ध्यान देना चाहिए।

वस्तु-विषय तत्त्व में उन्होंने पुरानी परम्परा का अनुकरण किया है परन्तु बहुत कम। पहले लिखा जा चुका है कि भारतेन्दु को जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह धार्मिक और पौराणिक नाटकों की थी। इसे जीवित रखने वाला उनका केवल *सत्य-हरिश्चन्द्र* नाटक है। *चन्द्रावली* में भी भक्ति तत्त्व का प्रदर्शन है इसलिए उसे भी इसी के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। अन्य सब रचनाओं के विषय प्रख्यात न होकर समयानुकूल हैं।

देखा जाय तो भारतेन्दु ने संस्कृत नाट्य शास्त्र की निर्धारित परम्परा में यह सब से बड़ा परिवर्तन किया। नाटक के विषय को उन्होंने इतना विस्तृत और अनेकरूपी बना दिया कि लेखक के सामने कोई कठिनाई नहीं रही। ऐसा करने से नाटक में जीवन-प्रदर्शन की विशालता का समावेश हो गया और लेखक की विचार-धारा सीमित न रहकर अनेक नवीन आख्यानों को खोजने में लग गई। स्वयं भारतेन्दु की रचनाओं के विषय इसके द्योतक हैं। उनका *विद्यासुन्दर* एक रोमांटिक नाटक है, *प्रेमजोगिनी* में सामाजिक जीवन के चित्र हैं, *भारतजननी* और *भारत-दुर्दशा* राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं और *नीलदेवी* में तत्कालीन भारतीय नारियों को बलशाली और भयहीन बनाने की प्रेरणा है। इसी प्रकार उनके प्रहसनों में भी अनेक प्रचलित धारणाओं और विचारों एवं व्यवस्थाओं पर बड़ा उत्कृष्ट, तीव्र व्यंग है।

पात्रों के चुनाव और उनके चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने परिधि को और अधिक विस्तृत कर दिया। यद्यपि नाट्य शास्त्र में सब प्रकार के पात्रों के समावेश का विधान है परन्तु संस्कृत नाटकों की परम्परा में अधिकतर नायक उच्च घराने का रखा जाता था। इस चुनाव के मूल में आदर्शवाद की प्रेरणा थी। परन्तु भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में सब प्रकार के पात्र लिये हैं। उनमें सत्यवादी प्रजावत्सल हरिश्चन्द्र भी हैं और अंधेर नगरी के ज्ञानहीन राजा भी; उनमें त्यागी, वीर, प्रेमी सुन्दर भी है और पापात्मा मीर

अब्दुश्शरीफ़ख़ाँ सूर भी; उनमें भगवद्भक्त चन्द्रावली भी है और धनदास तथा वनितादास जैसे धूर्त भी। उनके नाटकों में मंत्री, वैद्य, पंडित, काज़ी, मुल्ला, सिफारिशी, व्यापारी, पंडे, गुंडे, लुच्चे, कोंजड़े और फल बेचने वाले भी हैं और राजनीतिक कर्मचारी भी। और सब का चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल है, उपदेशप्रद भी है और यथार्थ भी।

रस के ऊपर भारतेन्दु ने वैसा ध्यान नहीं दिया जैसा संस्कृत के नाटक-लेखकों ने। संस्कृत के नाटक अधिकतर साहित्यिक नाटक हैं। उनका महत्त्व काव्य की दृष्टि से अधिक है अन्य कारणों से कम। परन्तु भारतेन्दु के नाटकों की यह एक बड़ी विशेषता है कि उनमें साहित्य भी है और अभिनीत होने की क्षमता भी। संस्कृत के नाटकों की एक-रसता भारतेन्दु में नहीं। यद्यपि भारतेन्दु के नाटकों में शृंगार और हास्य प्रधान हैं परन्तु उनकी रचनाओं के पढ़ने से जो धारणा होती है वह यह है कि लेखक अपने पात्रों को सजीव और यथार्थ रखना चाहता है अतएव उनकी भावनाओं और उनकी प्रति-क्रियाओं के चित्रण के ऊपर उसका ध्यान रहता है। उनसे चाहे जिस रस की सृष्टि हो उसे इसकी परवाह नहीं। इस प्रकार बाह्य-द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व का प्रदर्शन उसका लक्ष्य है। विचारधारा की इस नवीनता का कारण तत्कालीन समाज, उसकी आवश्यकतायें, अँगरेजी सभ्यता और साहित्य का सम्पर्क एवं मनोविज्ञान का अधिक युक्तिसंगत अध्ययन आदि हैं।

अपने *नाट्य-विधान* में *भारतेन्दु* संस्कृत के पूर्ण पक्षपाती नहीं रहे। यद्यपि उन्होंने संस्कृत के अनेक उदाहरण हिन्दी में प्रस्तुत किये यथा भाण, सट्टक, प्रहसन आदि, परन्तु उनकी रचनाओं में संस्कृत का अनुकरण भी है और अपनी मौलिकता भी।

संस्कृत की रचनाओं का आरंभ नान्दी-पाठ से होता है और

क्रमशः प्रस्तावना तथा मूल नाटक के पश्चात् भरत-वाक्य पर समाप्त हो जाता है। उनके आरंभिक नाटकों—*सत्य-हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली* तथा *वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति*—में यही क्रम मिलता है। *प्रेमजोगिनी* का आरंभ अवश्यं नान्दी एवं प्रस्तावना से होता है परन्तु अन्त में भरत-वाक्य नहीं है। संभव है इसका कारण उसकी अपूर्णता हो। इसी प्रकार *भारत जननी* में भी संस्कृत प्रणाली का आरंभ में अनुकरण किया गया है। एक विशेष आश्चर्य की बात यह है कि भारतेन्दु के सर्वप्रथम नाटक *विद्यासुन्दर* में भी संस्कृत परिपाटी नहीं बरती गई है। अन्य सब नाटकों का आरम्भ और अन्त भारतेन्दु ने अपनी इच्छा के अनुकूल किया है।

अतएव भारतेन्दु आरम्भ में अवश्य संस्कृत से प्रभावित हुए परन्तु धीरे-धीरे उनके ऊपर तत्कालीन रुचि का ही प्रभाव अधिक होता गया। वह वास्तव में खुली दृष्टि के आदमी थे और केवल वर्तमान को ही न देखकर भविष्य के विषय में भी पहले से ही सोच लेने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी। वह समझते थे कि सब कुछ करने पर भी हम तत्कालीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अपने साहित्य को बचाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उन्हें बँगला साहित्य में मिल रहा था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने यही उचित समझा कि वह अपनी रचनाओं को समीचीन बनावें। उनका मार्ग सीधा साधा था। प्राचीन संस्कृत नाट्य शास्त्र को उन्होंने अपना आधार बनाया और यथासंभव आधुनिक पुट भी उसमें मिला दिया। ऐसा करने से ब्राह्म-धर्म विशिष्ट काशी जैसी नगरी में भी वे पढ़े लिखों के कोप-भाजन बनने से वंचित हो गये और आगे का मार्ग भी प्रशस्त करने में समर्थ हुए। पूर्व और पश्चिम का यह समन्वय भावी पीढ़ी के लिए बड़ा शुभ हुआ।

भारतेन्दु की एक अमूल्य देन उनके गीत हैं। गीत आन्तरिक भावना को आकार देने की क्षमता रखता है। अभिनय के समय

जहाँ बाह्य स्थूल क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है वहाँ मन की स्थिति का भी व्यक्तीकरण होता है और उसी समय गीत की उपयोगिता दिखाई दे जाती है। परस्पर गद्य-भाषण करते रहने से दर्शकों के मन पर जो नीरसता छा जाती है उसे दूर करने में गीत ही सहायक होते हैं। मानव-हृदय के उद्गारों की अभिव्यंजना सदा से कविता में होती चली आई है। परिस्थिति विशेष के अनुकूल गाये हुए गीत न केवल रसानुभूति में सहायक होते हैं वरन् पात्र के चरित्र का उद्घाटन करने में भी समर्थ होते हैं। वीर से वीर योद्धा भी युद्ध की भीषणता के पश्चात् शान्ति के समय कुछ गुनगुना कर अपने हृदय को विश्राम देना चाहता है। कठोर से कठोर प्राणी संगीत के आवेग में अपनी पाषाण प्रकृति को भुला देता है। विरहिणियाँ गीत गा कर ही अपने दुखद क्षणों को भूलने में समर्थ होती हैं। गीत की उपयोगिता निर्विवाद है।

भारतेन्दु ने अनेक गीत लिखे हैं। अपने अनुवादित नाटकों तक में उन्होंने इस प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा है। निर्देश किया जा चुका है कि *मुद्राराक्षस* के परिशिष्ट में उन्होंने कुछ ऐसे गीतों का समावेश किया है जिनके द्वारा अङ्कों की नीरसता दूर की जा सकती है। उन्होंने यथास्थान इस प्रकार के गीतों का समावेश अपने नाटकों में किया है।

सरस्वती के इस वरद पुत्र ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के रूप में जिस दिन राष्ट्रीयता की भावना को उच्छ्वसित किया था, उसी दिन हमारे साहित्य में नवीन जीवन और नूतन स्फूर्ति का मंगलमय प्रभात चमका था।

भारत दुर्दशा के आरंभ का ही गीत—

रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा-हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

केवल अपने देश की अवस्था पर कवि के क्षोभ की अभिव्यञ्जना मात्र

नहीं। इस लावनी में नाटक की समस्त घटनाओं और उसके उद्देश्य का वह अमिट वातावरण भी सम्मिलित है जो पाठकों और दर्शकों को गम्भीरता का अनुभव करा कर उस पर विचार करने के लिए उन्हें बाध्य भी करता है।

एक दूसरा उदाहरण और है। *नीलदेवी नाटक* में देवीसिंह पहरा देते हुए गा रहा है—

प्यारी बिन कटत न कारी रैन ।
पल-छिन न परत जिय हाय चैन ॥
....
....

परदेस परे तजि देस हाय,
दुख मेटन हारो कोउ है न ।
सजि बिरह सैन यह जगत जैन,
मारत मरोरि मोहि पापी मैन । प्यारी......

दूर देश में लड़ने के लिए गये हुए सिपाही के हृदय के ये उद्‌गार कितने सत्य और स्वाभाविक हैं और साथ ही समीचीन भी। रात्रि के समय मीठे कंठ से निकली हुई कलिंगड़ा की मधुर तान किस को विमोहित न कर लेगी ? देवीसिंह के चरित्र को समझने में उसका केवल एक गान ही पर्याप्त है। लेखक को आवश्यकता नहीं कि वार्तालाप द्वारा उसके चरित्र का विकास दिखावे।

रात्रि के समय किसी माँ की यह लोरी भी—

सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन ।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन ।
भई आधी रात, बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,

जग प्रकृति भई मनु थिर लखाव,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन ।
....
....
सोए जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिंतित चकोर ।
विरहिन विरही पाहरू चोर,
इन कहुँ छन रैन हूँ हाय कल न ।

बड़ी ही सुन्दर है । मातृ-वत्सलता के इस करुण और कोमल गीत को कौन सा ऐसा सहृदय होगा जो बार-बार न पढ़े ? 'पाहरू' शब्द का प्रयोग यदि देवीसिंह के मन में भी उथल पुथल मचाने में समर्थ हो तो आश्चर्य ही क्या है ? भारतेन्दु अति-मानुषीय चरित्रों की सृष्टि करने के पक्षपाती नहीं थे । यह हिन्दी का सौभाग्य था कि अपने प्रथम नेता के हाथों में पड़ कर उसे जीवन को यथातथ्य रूप में अंकित करने की प्रवृत्ति और क्षमता प्राप्त हुई और उसे कथा-वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, वार्तालाप, वातावरण, देश, काल तथा भाषा और उद्देश्य आदि नाटक-उपकरणों की वह उचित परम्परा मिली जिसने आगे चलकर हिन्दी नाटक साहित्य को उन्नत और विकसित होने में बड़ी सहायता दी ।

भारतेन्दु की अन्य देन

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने अनुवाद और मौलिक दोनों नाटकीय परम्पराओं को जीवित रखा और इसके अतिरिक्त नवीन परम्पराओं का श्रीगणेश भी उन्होंने किया । जैसा पहले कहा जा चुका है उन्होंने संस्कृत नाट्य शास्त्र के नाटक के अनेक भेदों के उदाहरण हिन्दी में उपस्थित किए । एकांकी नाटकों की प्रथा उन्हीं से चली । *चन्द्रावली* तथा *भारत-जननी* हिन्दी के पहले एकांकी

माने जाने चाहिएँ। इसी प्रकार *भारत-दुर्दशा* और *नीलदेवी* हिन्दी साहित्य के प्रथम वियोगान्त नाटक हैं। प्रहसन की परम्परा के जन्म-दाता तो भारतेन्दु हैं ही। इसके अतिरिक्त उन्होंने अभिनय सम्बन्धी भी अनेक सुधार किये।

उनके समय में ही पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ स्थापित हो चुकी थीं जिनमें सेठ पेस्टन जी की Original Theatrical Company प्रसिद्ध थी। अन्य कम्पनियाँ भी खुलीं और इन व्यवसायी धनोपार्जन करने वाले कम्पनी-मालिकों ने '*इन्दर-सभा*' के आधार पर अनेक नाटक लिखवाये तथा जनता की रुचि को विकृत किया। भारतेन्दु ने इनके विपरीत भी बड़ा आन्दोलन किया।

भारतेन्दु स्वयं अभिनय करने में बड़े दक्ष थे। उनके जीवित काल ही में उनके कई नाटकों का अभिनय सफलता से किया जा चुका था।

उस समय की रुचि का उदाहरण नीचे लिखे उनके एक सम-कालीन लेखक 'नजीर' के *रामलीला* नाटक में प्रयुक्त पंक्तियों से लग सकता है। राम और सीता आपस में बात करते समय 'कटारी', 'जानी', 'दिलजानी', 'जोबन उभारना' या

परमेश्वर ने क्या सूरत है ये सँवारी,
सीता ने जिगर पै नैन कटारी मारी।
अलबेली बाँकी बरछी तिरछी चितवन,
चलते में लचके कमर हिचकती कामन।

आदि का प्रयोग करते हैं।*

भारतेन्दु के नाटकों और उनके गीतों की सुन्दर रुचि ने पारसी कम्पनियों द्वारा फैलाये गये दूषित वातावरण को शुद्ध करने और उन को आगे बढ़ने से रोकने में भी बड़ी सहायता की। नाटकीय उपयोगिता

---

* लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० १२६

के अतिरिक्त शुद्ध गीति-काव्य के सारे लक्षण इनकी रचनाओं में प्रस्तुत हैं।

उपसंहार

उपसंहार में यही कहा जा सकता है कि नाटक साहित्य की उन्नति और दूसरों के द्वारा उसे विकसित एवं प्रगतिशील बनाने में भारतेन्दु ने बड़ा योग दिया। यद्यपि भारतेन्दु के पहले भी अनुवाद और मौलिक नाटकों की परम्परायें हिन्दी में प्रस्तुत थीं परन्तु भारतेन्दु ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने नाटक-साहित्य-विकास में चोटी का प्रयत्न किया। उन्होंने—

१. तीनों परम्पराओं (अनुवाद, रूपांतर तथा मौलिक नाटक) को सुदृढ़ नींव पर रख कर सदा के लिए एक मार्ग निश्चित कर दिया।

२. मौलिक और रूपान्तरित नाटकों में विषय की विभिन्नता को सम्मिलित कर नाटकों में प्रख्यात अथवा पौराणिक इतिवृत्त के साथ-साथ अन्य विषयों का भी समावेश किया। राजनीति, देश-प्रेम, सामाजिक सुधार, वर्तमान-स्थिति आदि का नाटकीय प्रदर्शन करके जनता की रुचि को उस ओर आकर्षित किया और नाटक को जीवन का प्रतिबिंब और उसकी व्यंजना करने वाले माध्यम के रूप में स्थापित कर उसे आधुनिक नाट्य-प्रणाली के उपयुक्त बनाया।

३. गद्य और पद्य का रूप स्थिर कर नाटकों की भाषा को प्रांजल किया और उसे अभिव्यंजना के लिए सबल बनाया। नाटकों में गद्य की अधिकता रखी और उसमें भी गंभीरता बनी रहने दी।

४. गीतिकाव्य की रचनाओं के समावेश से संस्कृत की श्लोक-परम्परा में परिवर्तन किया और दृश्य-काव्य में आवश्यक शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार किया।

५. प्राचीन संस्कृत परिपाटी को तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार ढालकर उसे युगानुकूल बनाया और इस प्रकार बहुत से व्यर्थ

आडम्बर से बचाकर उसे विशाल रूप दिया।

६. नाटक के नये रूपों का श्रीगणेश किया। वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल उसमें प्रहसन, सुखान्त तथा दुःखान्त आदि का समावेश कराकर नाटक साहित्य को एक नया रूप और जीवन प्रदान किया। अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा नाटक की विभिन्न-रूपता का विकास इन्होंने किया।

७. अनेक नाटक-कम्पनियों की स्थापना कराकर जनता की रुचि को सुसंस्कृत करने का उद्योग किया और पारसी कम्पनियों के बुरे प्रभाव से उसकी रक्षा की।

८. अपने समकालीन लेखकों और मित्रों को प्रोत्साहन देकर नाटक साहित्य की क्षति-पूर्ति का अथक प्रयत्न किया।

उनके समकालीन एवं आगे आने वाले युग के लेखकों के लिए भारतेन्दु का नेतृत्व बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् १८८५ में भारतेन्दु का देहावसान हुआ।

अध्याय ३

भारतेन्दु के समकालीन और हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में उनका भाग

(सन् १८६७-१९०४ ई०)

जिन धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों ने भारत की तत्कालीन विचार-धारा में परिवर्तन किया था, उनकी ओर पूर्व अध्याय में संकेत किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त थ्योसोफिकल आन्दोलन और रानाडे द्वारा प्रचलित समाज-सुधारक 'प्रार्थना-समाज' का कार्य भी इस परिवर्तन में अपना महत्त्व रखता है। परन्तु सब कुछ होते हुए सत्य यही है कि राष्ट्रीयता की भावना और विदेशियों द्वारा पहनाये गये बन्धन को काटने की अभिलाषा—ये दो ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं जिन्होंने भारतवासियों को कभी सुख की नींद नहीं सोने दिया।

स्वतंत्रता की भावना भारतीय मस्तिष्क से कभी भी विलीन नहीं हुई। १२वीं शताब्दी के अन्त में तुर्कों द्वारा भारत में राज्य-स्थापना हुई और १८४९ में सिक्खों की पराजय ने यहाँ अंगरेजी राज्य की नींव को दृढ़ किया। परन्तु इस दीर्घ काल में हिन्दू-राज्य का अस्तित्व कभी मिटा नहीं। दक्षिण भारत में विजयनगर का राज्य (१३५०-१५६५), उत्तर भारत में क्षत्रिय राजाओं के देशी राज्य—जो अभी तक भी बने हुए हैं—और मराठों की विशाल शक्ति (१६५०-१८१८) ने विदेशियों के प्रति अपने धर्म-युद्ध को किसी न किसी प्रकार बनाये रखा। मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में सिक्ख शक्ति का उदय हुआ और १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उन्होंने काश्मीर और पंजाब पर अपना आधिपत्य

कर लिया। यह देश का दुर्भाग्य था कि सन् १८१८ और सन् १८४९ में मराठों और सिक्खों की क्रमशः पराजय भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना का कारण बनी। फिर भी एक बार सन् १८५७ में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर व्यवस्थित सैनिक विप्लव द्वारा अपनी गई हुई स्वतंत्रता पाने का अन्तिम उद्योग किया था। उसके बाद उन्हें एक ऐसी राजसत्ता के संपर्क में आना पड़ा जिसने उन्हीं के भाइयों को धन और मान से प्रलोभित कर उन पर विजय प्राप्त की थी और जो राज्य-स्थापना के साथ-साथ अपनी संस्कृति और साहित्यिक चेतना भी साथ ले आई थी। अपनी अनेकांगी शिथिलता के कारण, इस नवागन्तुक राजशक्ति का अनुकरण करना भारतवासियों के लिए स्वाभाविक हो गया और उसका प्रत्यक्ष प्रभाव सब से पहले बंगाल में प्रकट होने लगा। धीरे-धीरे वह अन्य प्रान्तों में भी फैला और हिन्दी-भाषा-भाषियों को भी हाथ बढ़ाकर उसका स्वागत करना पड़ा।

सन् १८७० का प्रेस-ऐक्ट, १८७८ का वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट, १८७९ की १२४ (अ) तथा १५३ (अ) धारायें, एवं १८८६ का इन्कमटैक्स ऐक्ट आदि कानूनी व्यवस्थाओं ने अंगरेजों की दमन-नीति के पूर्वरूप को उपस्थित किया। लार्ड डफरिन ब्रिटिश दमन-नीति के अग्रनेता बने। हमारे जीवन में नये संघर्ष का जन्म हुआ। अंगरेजों की राजनीति और अर्थनीति के कारण सम्पन्न भारत में धन-हीनता का प्रकोप हुआ और यहाँ के अनेक उद्योग-धन्धों को स्थगित करने के विदेशी प्रयत्नों ने भारत को कंकाल करना आरम्भ कर दिया। हम पहली बार जीवन की इस कठोर वास्तविकता के सम्पर्क में आये। भारतीय जीवन की आदर्शवादी परम्परा यथार्थवादी परम्परा में परिणत हो गई। आशाओं और निराशाओं से भरे हुए इसी प्रकार के जीवन-संघर्ष में नाटक साहित्य का बीज रहा करता है। देश के जिन जिन प्रान्तों में यह नवीन परिस्थिति हुई, वहीं सब से पहले साहित्य में उसकी अभि-

व्यंजना हुई। बंगाल सब से पहले प्रभावित हुआ और उसमें इस काल में कुछ अच्छे नाटककार हुए, जिनमें श्री गिरीशचन्द्र घोष, माइकेल मधुसूदन दत्त एवं मनमोहन वसु प्रधान थे।

मुद्रण-यंत्र के आविष्कार ने इस विचारधारा और साहित्य के प्रसार में बड़ी सहायता की। साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों को दूसरों के विचारों से अवगत होने का अवसर प्रदान किया। इसी के कारण प्राचीन जीर्ण साहित्य का भी बहुत कुछ पुनरुद्धार हुआ जिसके द्वारा भारतवासियों ने एक बार फिर से अपनी गई हुई सभ्यता के प्रकाश को देखा।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि आरम्भ में यह संस्था केवल कुछ गिने हुए पढ़े लिखों की ही संस्था थी परन्तु उसका उद्देश्य महान था और उसने स्वतंत्रता की भावना को देशवासियों में जीवित रखा। आखिर पढ़े लिखे ही अपने सन्देश को अशिक्षित जनता तक पहुँचाने में समर्थ हुए।

इधर अपनी विचारधारा और भावों को पूर्णरूप से अभिव्यंजित करने वाली हिन्दी गद्य-भाषा का भी पर्याप्त विकास और प्रसार हुआ। उसमें शक्ति भी आई और प्रांजलता एवं प्रौढ़ता भी।

इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच पुनीत काशी से भारतेन्दु ने अपना शंखनाद किया। कुरुक्षेत्र के मैदान में भगवान कृष्ण के पांचजन्य ने अर्जुन और उनके सहयोगियों को एकत्रित किया था। भारतेन्दु के आवाहन ने भी हिन्दी साहित्य की सेवा करने वालों की एक सेना उपस्थित कर दी। उन्होंने स्वयं सेनानायक बन कर किस प्रकार अपने कार्य का संचालन किया इसका विवरण पिछले अध्याय में आ चुका है। भारतेन्दु की प्रतिस्थापित इस मंडली ने भी साहित्य की विभिन्न शाखाओं का विस्तार किया जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी का कोश भरा पूरा दिखाई देने लगा।

हिन्दी का नाटक साहित्य इनकी विशेष देन थी। भारतेन्दु अपने जीवन के अल्प काल में थोड़ी सी उदाहरण-स्वरूप रचनाओं द्वारा केवल मार्ग-निर्देशन ही कर सके, परन्तु उसे प्रशस्त करने का कार्य भार उनके समकालीन लेखकों पर पड़ा और कहना पड़ेगा कि इन्होंने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह पूर्ण योग्यता से किया। इन लेखकों के साहित्य का विवरण देने से पूर्व एक बात बताना आवश्यक है—प्रत्येक प्रधान लेखक पर भारतेन्दु के व्यक्तित्व का प्रभाव था और अपनी प्रेरणा और अभिव्यञ्जना के लिए वह भारतेन्दु का ऋणी था। किशोरीलाल गोस्वामी, खड्ग बहादुर मल्ल, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी आदि नाटककारों के नाटकों की भूमिका एवं प्रस्तावना से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। इन प्रस्तावनाओं में उन्होंने भारतेन्दु के कार्यों की सराहना की है और उनके अभाव पर अपनी असमर्थता एवं दुःख प्रकट किया है[1]। संवत् अथवा सन् ईस्वी की अपेक्षा 'हरिश्चन्द्राब्द' का तत्कालीन प्रकाशित साहित्य में प्रयोग स्वयं इसका प्रमाण है कि भारतेन्दु का व्यक्तित्व कितना प्रभावशाली और परिवर्तनकारी था। इसी कारण यह काल *भारतेन्दु-काल* कहा जाता है।

भारतेन्दु-काल के नाटकों में भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित शैलियों और विचारधाराओं का सम्पूर्ण विकास उपलब्ध है। वास्तव में प्रत्येक धारा अपना अस्तित्व रखती है। प्रमुख धारायें हैं—

(अ) पौराणिक धारा—

इसके अन्तर्गत तीन उपधारायें हैं—एक रामचरित को लेकर चलती है और दूसरी कृष्ण-चरित को। अतएव इनके नाम क्रमशः *राम-चरित धारा* और *कृष्ण-चरित धारा* ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं। तीसरी धारा

---

१. अंबिकादत्त व्यासकृत गोसंकट-नाटक (१८८६)

अन्य पौराणिक आख्यानों से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों और घटनाओं को अपना आधार मानकर चली है।

(*आ*) *ऐतिहासिक धारा—*

ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं से सम्बन्ध रखती है।

(*इ*) *राष्ट्रीय-धारा—*

इसमें देश-प्रेम सम्बन्धी नाटक सम्मिलित हैं।

(*ई*) *समस्या-प्रधान-धारा—*

धार्मिक और सामाजिक उद्धार की प्रेरणाओं को लेकर इसका जन्म हुआ।

(*उ*) *प्रेम-प्रधान-धारा—*

प्रेम-पूर्ण आख्यान ही इसकी विशेषता है।

(*ऊ*) *प्रहसन-धारा—*

इसमें विनोद और व्यंग्य-पूर्ण छोटे-छोटे प्रहसनों की प्रधानता है। ये प्रहसन कभी-कभी 'नाटक' भी कहलाये हैं।

पौराणिक नाटक-धारा का श्रीगणेश भारतेन्दु के द्वारा *चन्द्रावली* से हुआ था। इसमें भारतेन्दु ने चन्द्रावली के कृष्ण-प्रति भक्ति-प्रेम का चित्रण किया है। उनके नाटक में कविता की प्रधानता है, कथा-विस्तार नगण्य ही है। परन्तु भारतेन्दुकाल के नाटक-लेखक इस विषय पर अपने नेता से बहुत आगे बढ़ गये हैं। इनके नाटकों में पौराणिक आख्यानों के कई रूप स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं। उनमें राम-चरित और कृष्ण तथा कृष्ण-चरित सम्बन्धी अन्य प्रसंगों को लेकर एक प्रकार की स्वतंत्र धारा का प्रवाह मिलता है। साथ ही अनेक पौराणिक आख्यानों को लेकर बहुत से सुन्दर आदेश-प्रद और आचार-विचार को समुन्नत करने वाले नाटकों की भी रचना इस काल में हुई है।

राम-चरित धारा में उल्लेखनीय रचनायें हैं—शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत *रामचरितावली* (?) देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत *सीताहरण*

(१८७६) और *रामलीला* (१८७९); रामगोपाल विद्यान्त कृत *रामाभिषेक* (१८७७); बलदेवजी कृत *रामलीला-विजय* (१८८७); दामोदर सप्रे शास्त्री कृत *रामलीला ७ काण्ड* (लगभग १८८९), शिवशङ्कर लाल कृत *रामयश-दर्पण* (१८९२); जयगोविन्द कृत *राम-चरित्र* (१८९४); बन्दीदीन दीक्षित कृत *सीताहरण* (१८९५) और *सीता-स्वयंवर* (१८९९); ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत *सीता-वनवास* (१८९५) तथा *रामलीला रामायण* (१९०४); बदरीनारायण 'प्रेमघन' कृत *प्रयाग-रामागमन* (१९०४); तथा वामनाचार्य गिरि कृत *वारिदनाद-वध-व्यायोग* (१९०४)।

इन नाटकों में से देवकीनंदन के नाटक साहित्यिक न होकर रंगमंचीय अधिक हैं। दामोदर सप्रे के नाटक में रामायण की लीला पर विशेष ध्यान दिया गया है, उसके नाटकीय विकास का क्रम उसमें नहीं है। ज्वालाप्रसाद मिश्र का *सीता-वनवास* भी उच्चकोटि की रचना नहीं है। यद्यपि यह पूरे दस अंक का महानाटक है परन्तु उसकी भाषा और कथा-विस्तार दोनों में शिथिलता है। उसकी शैली सांगीतों वाली शैली है जिसमें वर्णन की प्रधानता होती है और कविता की अधिकता के साथ साथ कार्य-व्यापार की प्रगति भी किसी पात्र द्वारा वर्णन कराकर पूरी की जाती है। बंदीदीन का *सीता-स्वयंवर* जो इस धारा का लगभग अंतिम नाटक है कविता से भरपूर है और उसमें स्वयं पात्रों द्वारा कार्य की कमी है।

संक्षेप में अच्छा नाटक इस विषय पर भारतेन्दु-काल में कोई नहीं लिखा गया। इस परम्परा में *आनन्द-रघुनन्दन* अपने अनेक दोषों सहित भी उच्च रचना है।

कृष्ण-चरित धारा कृष्ण-चरित और तत्सम्बन्धी लीलाओं को लेकर चली। इस धारा में शिवनंदनसहाय कृत *कृष्ण सुदामा* (१८७०) पहला नाटक था। देवकीनंदन त्रिपाठी के *रुक्मणी-हरण* (१८७६), कंस-

वध (१८७९) और *नंदोत्सव* (१८८०) आरंभिक रंगमंचीय नाटक थे; इसके उपरान्त लिखे गये नाटकों में प्रधान हैं—अम्बिकादत्त व्यास कृत *ललिता* (१८८४); हरिहरदत्त दुबे कृत *महारास* (१८८४); खड्गबहादुर मल्ल कृत *महारास* (१८८५) और *कल्पवृक्ष* (१८८६); गजराजसिंह कृत *द्रौपदी-वस्त्र-हरण* (१८८५), चन्द्रशर्मा का *उषाहरण* (१८८७); विद्याधर त्रिपाठी रचित *उद्धव-वशीठ नाटिका* (१८८७); दामोदर शास्त्री कृत *बालखेल या ध्रुव चरित्र* (१८८९); कार्तिक प्रसाद कृत *उषाहरण* (१८९१); अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत *प्रद्युम्न-विजय* (१८९३) तथा *रुक्मणी परिणय* (१८९४); कृष्णदत्त द्विज कृत *श्री युगल-विहार* (१८९६); प्रभुलाल कृत *द्रौपदी-वस्त्र-हरण* (१८९६); सूर्यनारायण सिंह की *श्यामानुराग नाटिका* (१८९९); बलदेवप्रसाद मिश्र के *नंदविदा* (१९००) और *प्रभास-मिलन* (१९०३); बिहारीलाल चटर्जी एवं काली कृष्ण मुकर्जी का *प्रभास-मिलन* (१९००); राधाचरण गोस्वामी कृत *श्रीदामा* (१९०४); वामनाचार्य गिरि कृत *द्रौपदी चीरहरण* (?)।

उपरोक्त सूची से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों ने 'नन्दनंदन श्रीकृष्ण' को ही नहीं अपनाया वरन अधिकतर नाटक उनके उस चरित पर लिखे गये हैं जिन्हें हम 'द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण' कह सकते हैं। रास जैसी लीला भी नाटक का विषय बनी और सुन्दर नाटक के लिए प्रेरणा स्वरूप रही। नाटकीय दृष्टि से उनमें अयोध्यासिंहजी के दोनों नाटकों में संस्कृत प्रणाली का अनुसरण होते हुए भी नाटक का सुन्दर विकास मिलता है। *प्रभास-मिलन* (१८९९) के नाम से एक और भी नाटक लिखा गया। इसके लेखक दुर्गाप्रसाद मिश्र हैं। परंतु यह नाटक बंगभाषा के *'प्रभास-यज्ञ'* का रूपान्तर है। वैसे नाटक बड़ा सफल है। गोस्वामीजी का *श्रीदामा* भी सुन्दर नाटक है। मिश्र जी के नाटकों का वस्तु-गठन बड़ा ढीला है। खड्गबहादुर मल्ल का कल्प-वृक्ष अपने नाम से बड़ा विचित्र लगता है। परंतु इसमें श्रीकृष्ण की स्त्री सत्यभामा

के गर्व का खंडन दिखाया गया है।

यदि उपाध्याय जी ने अपने नाटक-लेखन प्रयास को स्थगित न किया होता तो सम्भव था कि उनकी प्रतिभा प्रिय-प्रवास में अभिव्यंजित न होकर किसी नाटक के ही रूप में हिन्दी संसार में आती।

तीसरी पौराणिक धारा एक और भी है जिसे *मिश्रित पौराणिक धारा* कह सकते हैं क्योंकि इस धारा के नाटकों में कथानक पुराणों से भी लिये गये हैं और महाभारत आदि अन्य ग्रन्थों से भी। गोपीचन्द और भर्तृहरि एवं मोरध्वज जैसे व्यक्तियों के चरित्रों पर भी नाटकीय प्रकाश डाला गया है। ये नाटक प्रायः चरित्र-प्रधान ही हैं। गोपीचन्द के चरित्र को लेकर ही अन्नाजी इनामदार (१८७७), सखाराम बालकृष्ण सरनायक (१८८३), एवं श्रीमती लालीजी ने (१८९६) अलग अलग नाटक लिखे। प्रह्लाद के चरित्र को भी पंड्या मोहन लाल विष्णुलाल (१८७४), लाला श्रीनिवास दास (१८८८) एवं जगन्नाथ शरण ने नाटकबद्ध किया परन्तु इनमें से किसी को भी सफलता न मिली। लाला जी के नाटक को एक विद्वान की सम्मति के अनुसार उनका लिखा न मानकर उनके पुत्र का ही बताया जाता है।

अन्य नाटक जो पौराणिक व्यक्तियों अथवा महाभारत आदि ग्रन्थों से प्रसिद्ध पुरुषों को लेकर लिखे गये, ये हैं—श्यामसुन्दर लाल दीक्षित कृत *महाराज भर्तृहरि* नाटक (१८७८); विष्णु गोविंद शिर्वादेकर कृत *कर्ण-पर्व* (१८७९); देवकीनंदन त्रिपाठी कृत *लखमी सरस्वती मिलन*; बालकृष्ण भट्ट कृत *दमयन्ती-स्वयंवर* (१८८५); मंसाराम का *ध्रुव-तपस्या* (१८८५); जीवानन्द शर्मा कृत *मंगल नाटक* (१८८७); चुन्नीलाल रचित *श्री हरिश्चन्द्र* (१८८९); शालिग्राम कृत *मोरध्वज* (१८९०), *अभिमन्युवध* (१८९६) एवं *अर्जुन-मद-मर्दन* (?); भवदेव उपाध्याय कृत *सुलोचना सती* (१८९३); अम्बाप्रसाद कृत *वीर-कलंक* (१८९६); कैलाशनाथ वाजपेयी कृत *विश्वामित्र* (१८९७); दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा

४

कालीप्रसाद मिश्र का *सरस्वती* (१८९८) कन्हैयालाल का *शील-सावित्री* (१८९८); लाला देवराज का *सावित्री* (१९००); कन्हैयालाल का *अंजना-सुन्दरी* (१९०१); तथा सी० एल० सिन्हा का *विष्या-चन्द्रहास* (१९०२)।

इन पौराणिक नाटकों में से कुछ अप्राप्य हैं अतएव उनका मूल्यांकन असंभव है। प्राप्य नाटकों में से शालिग्राम जी के नाटक अधिक उत्कृष्ट न होते हुए भी असहनीय नहीं हैं। उनके संवाद और गति-विकास में शिथिलता है परन्तु प्रयास अवश्य है। सब से अच्छा नाटक *दमयन्ती स्वयंवर* है।

नीलदेवी लिखकर भारतेन्दु ने *ऐतिहासिक नाटक-धारा* की नींव डाली थी। उनके समकालीन लेखकों ने इस धारा को भी आगे बढ़ाया। इस सम्बन्ध की प्रधान रचनायें हैं—राधाकृष्णदास कृत *पद्मावती* (१८८२) और *महाराणा प्रताप* (१८९७); काशीनाथ खत्री कृत *तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक* (१८८४); वैकुंठनाथ दुग्गल कृत *श्रीहर्ष* (१८८४); श्रीनिवासदास कृत *संयोगिता-स्वयंवर* (१८८५); गोपाल राम कृत *यौवन-योगिनी* (१८९३); राधाचरण गोस्वामी कृत *अमरसिंह राठौर* (१८९५); बलदेवप्रसाद मिश्र कृत *मीराबाई* (१८९७); सैयद शेर अली कृत *कत्ल हकीकत राय* (१८९७) और गंगाप्रसाद गुप्त कृत *वीर जयमल* (१९०३)।

इनके अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र कृत *हठी हमीर* एवं बालकृष्ण भट्ट कृत *चन्द्रसेन* का उल्लेख भी मिलता है परन्तु इनके रचनाकाल और नाटकीय प्रतिपादन के रूप में अनिश्चितता है।

उपरोक्त धारा में राधाकृष्णदास कृत *महाराणा प्रताप* और काशीनाथ खत्री के ऐतिहासिक रूपकों का स्थान प्रमुख है। नाटकीय दृष्टि से *महाराणा प्रताप* इस धारा का तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ नाटक है और एकांकी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी का *अमरसिंह राठौर* अच्छी कृति है।

काशीनाथ खत्री के *तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक* (*सिन्धुदेश श्री राजकुमारियाँ, गुन्नौर की रानी, महाराजा लवजी का स्वप्न*) में मुसलमान शासकों की लम्पटता और कामुकता तथा हिन्दू राजाओं की आचार-मर्यादा की संक्षिप्त अभिव्यंजना है। कलात्मक दृष्टि से इन तीनों में से कोई भी उत्कृष्ट कृति नहीं कहला सकती। *संयोगिता-स्वयंवर* लाला श्रीनिवासदास की अन्तिम रचना है परन्तु सब प्रकार से उसमें शिथिलता है और इसी कारण 'प्रेमघन' जी ने उसकी विशद कटु आलोचना अपने पत्र *'कादम्बिनी'* में प्रकाशित की थी। *हिन्दी-प्रदीप* की आलोचना भी ऐसी ही है।†

भारतेन्दु ने *भारत-दुर्दशा* द्वारा सब से पहले देश-प्रेम की भावना और राष्ट्रीयता को रंगमंचीय रूप प्रदान किया था। इस *राष्ट्रीय धारा* के नाटकों में भारतेन्दुकाल के शरत् कुमार मुकर्जी का *भारतोद्धार* (१८८३); खड्ग बहादुर मल्ल का *भारत-आरत* (१८८५); अम्बिका-दत्त व्यास कृत *भारत-सौभाग्य* (१८८७); बदरी नारायण 'प्रेमघन' का *भारत सौभाग्य* (१८८८); दुर्गादत्त का *वर्तमान दशा* (१८९०); गोपाल-राम गहमरी कृत *देश-दशा नाटक* (१८९२); जगतनारायण का *भारत-दुर्दिन* (१८९५); देवकीनन्दन त्रिपाठी का *भारत-हरण* (१८९९) और प्रतापनारायण मिश्र का *भारत-दुर्दशा* (१९०२) प्रधान कहे जा सकते हैं।

इन नाटकों में से अधिकांश उच्च कोटि के नाटक नहीं हैं। वे केवल अंकों में विभाजित समस्या विशेष पर संवादबद्ध हृदयोद्गार हैं। कथा-वस्तु का व्यवस्थित विस्तार और कलात्मक चरित्र-चित्रण इनमें नहीं है। परन्तु फिर भी देश की राजनैतिक, आर्थिक और असंगठित अवस्था का चित्र इनमें अच्छी प्रकार खींचा गया है। 'प्रेमघन' जी

---

† देखो हिन्दी-प्रदीप, अप्रैल सन् १८८६, जिल्द ९, संख्या ८, पृ० १६-२१.

के *भारत-सौभाग्य* को इस विषय की प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है। इसमें 'भारत' नायक है, 'सौभाग्य देवी' नायिका है और 'बद इकवाले हिन्द' प्रतिनायक है। लेखक ने भारतवर्ष के दुर्दम अध्यायों का इतिहास दिखाकर अंगरेजी राज्य की स्थापना में उसके पुनः सुव्यवस्थित होने की आशा दिखाई है परन्तु विषय बड़ा लम्बा है और कथावस्तु सुगठित नहीं रह सकी। पात्रों की अधिक संख्या के कारण उनका चरित्र-विकास भी कठिन हो गया है। कुछ गर्भांकों में कलात्मक अभिव्यंजना अवश्य उच्च कोटि की है जिसके कारण नीरसता में कमी हो जाती है।

समस्या-प्रधान नाटक-धारा का जन्म भारतेन्दु की *प्रेम-जोगिनी* (१८७५) से मानना चाहिए। ऐसे नाटकों का प्रधान उद्देश्य किसी देश, सम्प्रदाय, वर्ग विशेष अथवा समाज-सुधार आदि विषयों से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की समस्या का नाटकीकरण है। वास्तव में जिन्हें यथार्थवादी नाटक कहा जाता है उनका जन्म इन्हीं प्रतिदिन की समस्याओं के द्वारा हुआ करता है। यही वास्तविक जीवन के चित्र होते हैं और इन्हीं के द्वारा लेखक हमारे सामने अपने विचारों का जीता जागता रूप प्रस्तुत करता है। समस्या को उचित कथानक द्वारा अभिव्यक्त करना इतना सुगम नहीं है जितना दिखाई देता है। इन नाटकों का आनन्द लेने के लिए दर्शक एवं पाठक-मंडली में भी उसी उच्च कोटि की ज्ञान गरिमा की आवश्यकता होती है जिसकी उनके लेखक में होनी आवश्यक है। प्रायः देखा गया है कि समस्या-नाटक-लेखक अपने उद्देश्य में असफल रहते हैं क्योंकि उनमें कभी-कभी अपना मत प्रतिपादित करने वाले उस तर्क का अभाव रहता है जिसके द्वारा अपने चरित्रों के चरित्र-चित्रण से, अपने विचारों को पाठकों के ग्रहण योग्य बनाने में वे सफल हों। ऐसे नाटकों में काव्य का अंश कम रहता है, सवाद की प्रौढ़ता और कथावस्तु विस्तार की सुचारुता अधिक रहती है।

भारतेन्दु काल में जिन विषयों का समावेश नाटकों में किया गया उनमें बाल-विवाह, वैवाहिक प्रथा की बुराइयाँ, स्त्री जाति की असहायता और दीनता एवं तत्कालीन आचार, शिष्टाचार में ह्रास आदि प्रधान विषय थे। गो-रक्षा और गो-वध की समस्या को लेकर भी कुछ नाटक लिखे गए। राष्ट्रीय जागृति आन्दोलन और आर्यसमाज के विचारों का प्रभाव इस धारा के नाटकों पर विशेष स्पष्ट है। पं० रुद्रदत्त शर्मा के नाटक *अबला-विलाप* (१८८४); *पाखण्ड मूर्ति* (१८८८) तथा *आर्यमत मार्तण्ड* (१८९५) एवं जगन्नाथ भारतीय के *समुद्रयात्रा* वर्णन (१८८७); *वर्ण-व्यवस्था* (१८८७) और *नवीन वेदान्त नाटक* (१८९०) इसी प्रकार के नाटकों में से थे। कला की दृष्टि से इनमें कोई विशेषता नहीं पर इनमें संवादों में अपने तर्क को सिद्ध करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत है। यद्यपि किशोरीलाल गोस्वामी जैसे कट्टर सनातनधर्मियों ने इन प्रगतिशील प्रवृत्तियों का यथास्थान अपने नाटक *मयंक-मंजरी* में विरोध किया है परन्तु अपनी सभी प्रकार की दुर्बलताओं को हटाने के लिए इस काल के लेखक बड़े व्यग्र थे। *'ब्राह्मण'* और *'हिन्दी-प्रदीप'* की पुरानी फाइलें यह प्रमाणित करती हैं कि समाज में परिवर्तन की आवश्यकता प्रत्येक भारत का हितेच्छुक अनुभव करता था और उसके समर्थन में अपनी लेखनी को उठाने में प्रयत्नशील था। राधाचरण गोस्वामी जैसे पक्के वैष्णवों ने अपने निबन्ध *'यमलोक की यात्रा'* में बहुत से पुराने विचारों की पोल खोली है। अपने प्रहसन *'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण'* में तो उन्होंने गोस्वामियों की दूषित मनोवृत्ति और उनके अनुयायी वैष्णव भक्तों की मूर्खता का अच्छा खाका खींच कर रख दिया है। अतएव भारतेन्दुकाल में समस्या-नाटकों की रचना उस काल की मनश्चेतना और चिन्ताधारा का पूर्ण रूप हमारे सामने लाकर रख देती है।

केवल विवाह जैसी समस्या को ही लेकर जो नाटक लिखे गए

उनमें ये उल्लेखनीय हैं—शरण-कृत *बाल-विवाह* (१८७४); राधाकृष्ण दास का *दुखिनी बाला* (१८८०); देवकीनंदन त्रिपाठी कृत *बाल-विवाह* (१८८१); काशीनाथ खत्री का *विधवा-विवाह* (१८८२) और *बाल-विधवा संताप* (?); निद्धिलाल का *विवाहिता-विलाप* (१८८३); तोताराम का *विवाह-विडम्बन* (१८८४); देवी प्रसाद शर्मा कृत *बाल्य विवाह नाटक* (१८८४); देवदत्त मिश्र कृत *बाल-विवाह-दषक* (१८८५); घनश्यामदास कृत *वृद्धावस्था विवाह नाटक* (१८८८) और छुट्टनलाल स्वामी कृत *बाल विवाह नाटक* (१८९८)।

नाटकीय दृष्टि से इन नाटकों में उपदेश अधिक हैं और कलात्मक प्रसरण नहीं के बराबर है।

नारी-समस्या से संबंध रखने वाले नाटक बहुत कम हैं। केवल थोड़ों-सा का ही उल्लेख पर्याप्त है—प्रतापनारायण मिश्र का *कलि-कौतुक रूपक* (१८८६) एक पत्नी को उसके वेश्यागामी पति के द्वारा दिए गए दुखों की कथा है। कामताप्रसाद लिखित *कन्या संबोधनी नाटक* (१८८८) और खड्गबहादुर मल्ल की *भारत-ललना* (१८८८) एवं *हरतालिका* (१८८७) आदि नाटक भी प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों में भारतीय नारी के सतीत्व और आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश है। बैजनाथ कृत *वीर-नामा* (१८८३), छगनलाल कासलीवाल कृत *सत्यवती* (१८९६); बालमुकुन्द पांडे कृत *गंगोत्तरी* (१८९७); बलदेवप्रसाद मिश्र की *नवीन तपस्विनी* (१९०२) तथा पुत्तनलाल सारस्वत की *स्वतंत्र वाला* (१९०३) इसी धारा की कृतियाँ हैं।

गो-रक्षा की समस्या पर अंबिकादत्त व्यास ने *गोसंकट* (१८८२); देवकीनंदन त्रिपाठी ने *गो-वध-निषेध* (१८८१) तथा *प्रचंड गोरक्षण* (१८८१); प्रतापनारायण मिश्र ने *गोसंकट* (१८८६ के लगभग) और जगतनारायण ने *अकबर गोरक्षा न्याय नाटक* (१८८९) लिखे।

वेश्यावृत्ति और इसके कुप्रभाव पर दो एक नाटकों की रचना

हुई। इसी प्रकार रामगरीब चौबे ने *नागरी विलाप* (१८८५) तथा गौरीदत्त ने *सर्राफ़ी नाटक* (१८९०) एवं रतनचंद ने *हिन्दी-उर्दू* (१८९०) पर प्रकाश डाला।

कलात्मक दृष्टि से इन नाटकों में से प्रायः सभी एकांकी नाटक जैसे हैं जिनमें समस्या के किसी एक ही पहलू पर विचार किया गया है और संवादों में पात्रों द्वारा लेखक के विचारों को रख दिया गया है। उन्हें नाटकीय बनाने का कोई गंभीर प्रयास नहीं है। यह आश्चर्य की बात है। प्रतीत होता है, नाटक को लेखकों ने अपनी विचार-व्यंजना का माध्यम तो स्वीकार कर लिया पर उसके सांगोपांग विकास और वैज्ञानिक एवं कलात्मक उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया।

प्रेम-प्रधान नाटक भारतेन्दुकाल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण धारा है। भारतेन्दु ने इस रूप में *विद्या-सुन्दर* को छोड़ कर अन्य किसी नाटक का निर्माण नहीं किया। परन्तु प्रेम एक ऐसी भावना है जिसका महत्त्व प्रत्येक निर्विवाद स्वीकार करता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु काल के लेखकों की यह धारा हिन्दी साहित्य के लिए नवीन वस्तु है।

प्रेम के विभिन्न रूपों का समावेश इन नाटकों में नहीं मिलेगा परन्तु फिर भी कुछ नाटक भारतेन्दुकाल के गौरव स्वरूप हैं और भावी हिन्दी नाटककारों के पथ-नियामक हैं।

भारतेन्दु काल के इन नाटकों में प्रधान हैं—श्रीनिवासदास कृत *रणधीर प्रेममोहिनी* (१८७७) और *तप्तासंवरण* (१८८३); नानकचंद कृत *चन्द्रकला* (१८८३); अमनसिंह गोतिया कृत *मदन मंजरी* (१८८४); जागेश्वरदयाल कृत *मदन मंजरी* (१८८४); महादेवप्रसाद कृत *चन्द्रप्रभा मनस्वी* (१८८४); श्रीकृष्ण टकरू कृत *विद्या-विलासिनी* (१८८४); खड्गबहादुर मल्ल कृत *रति-कुसुमायुध* (१८८५); सतीशचन्द्र वसु का *मैं तुम्हारा ही हूँ* (१८८६); कृष्णदेवशरण सिंह का *माधुरी रूपक* (१८८८); विंधेश्वरीप्रसाद का *मिथिलेश कुमारी* (१८८९); किशोरी

लाल गोस्वामी कृत *प्रणयिनी-परिणय* और *मयंक-मंजरी* (१८९१); *शालिग्राम* रचित *लावण्यवती-सुदर्शन* (१८९२); खिलावनलाल का *प्रेम-सुन्दर* (१८९२); गोपालराम का *विद्या-विनोद* (१८९२); राजेन्द्र सिंह की *प्रेम-वाटिका* (१८९२); कृष्णानंद द्विवेदी का *विद्या विनोद* (१८९४); शालिग्राम का *इश्क-चमन* (१८९४); बालमुकुंद पांडेय कृत *गंगोत्री* (१८९५); देवदिनेश भिनगा की *प्रेम-मंजरी* (१८९४); गोकुलचंद औदीच्य की *पुष्पवती* (१८९४); कालिकाप्रसाद अग्नि-होत्री का *प्रफुल्ल* (१८९५), जगन्नाथप्रसाद शर्मा का *कुन्दकली नाटक* (१८९५); ब्रजजीवन दास कृत *प्रेमविलास भाग १* (१८९८); जवाहरलाल वैद्य का *कमलमोहिनी भँवरसिंह* (१८९८); बजरप्रसाद रचित *मालती-वसन्त* (१८९९); तथा ज्ञानानंद कृत *प्रेम-कुसुम* (१८९९); जैनेन्द्रकिशोर का *सोमसती* (१९००); सूर्यभान का *रूप-वसन्त* (१९०१); हरिहरप्रसाद जिंजल का *जया* (१९०३); शालिग्राम का *माधवानल काम-कंदला* (१९०४) और राय देवीप्रसाद का *चन्द्रकला-भानुकुमार* (१९०४)।

'हिन्दी-प्रदीप' में सन् १८८० में एक नाटक आरम्भ हुआ था मोतीलाल जौहरी कृत *मनमोहनी*, परन्तु एक दो संख्याओं में प्रकाशित होने के पश्चात् यह बंद हो गया।

इस धारा से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य नाटक भी निकले परन्तु वह विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनका नाम परिशिष्ट में दे दिया गया है।

ये नाटक अधिकतर सुखान्त हैं। दुखान्तों में श्रीनिवासदास जी का *रणधीर-प्रेममोहिनी* और शालिग्राम का *लावण्यवती-सुदर्शन* ही उल्लेखनीय हैं। यद्यपि हिन्दी का सबसे पहला दुखान्त नाटक भार-तेन्दु का *नीलदेवी* है परन्तु वह ऐतिहासिक है। साधारण जीवन को लेकर लिखे गए प्रेम-प्रधान नाटकों में लालाजी का *रणधीर-प्रेममोहिनी*

पहला दुखान्त नाटक है। नाटक में सारे नाटकीय गुण विद्यमान हैं। शालिग्राम जी के नाटकों में जिस प्रकार की कार्य-व्यापार की न्यूनता रहती है वह इसमें भी है। बालमुकुन्द पांडेय का *गंगोत्री* इसी वर्ग की एक शिथिल रचना है।

अन्य नाटकों में *रतिकुसुमायुध*, *मयंक-मंजरी*, *जया* और *चन्द्रकला-भानुकुमार* सुन्दर नाटक हैं। इनमें से भी *मयंक-मंजरी*, *जया* और *चन्द्र-कला-भानुकुमार* तो पूरे काव्य ही हैं। लेखक-द्वय ने अधिक से अधिक कविताओं का समावेश, जिनमें सवैये और घनाक्षरियों की ही प्रधानता है, अपने नाटकों में किया है। उनकी कविता के बोझ से पाठक मूल कथानक और चरित्रों तक को विस्मरण कर बैठता है। सम्भवतः यही कारण है कि महानाटक होते हुए भी यह नाटक हिन्दी साहित्य में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके। देवीप्रसादजी ने तो फिर भी अपनी भूमिका में अनुभव किया है कि अभिनय की दृष्टि से उनका नाटक बहुत बड़ा है अतएव उन्हीं के निर्देशानुसार उसमें से कुछ निश्चित अंश हटा देना चाहिए परन्तु गोस्वामी जी तो अपनी कविता का चम-त्कार दिखाते ही चले गए हैं। *रतिकुसुमायुध* और *जया* साधारण कोटि के नाटक हैं।

इस धारा के नाटककारों ने अपने कथा-वस्तु के विस्तार के लिए घटनाओं का स्वाभाविक विकास न दिखाकर अकस्मात् हो जाने वाली घटनाओं (Chances) का आश्रय बहुत अधिक लिया है। फिर भी अतिमानुषिकता (Supernatural) के प्रयोग की अपेक्षा इस विधान में भावी विकास का बीज वर्तमान है।

संस्कृत के *प्रबोध-चन्द्रोदय* की जो *प्रतीकवादी-नाटक-धारा* महा-राज जसवंतसिंह के अनुवाद द्वारा आरंभ हुई थी और *भारत-दुर्दशा* लिखकर भारतेन्दु ने स्वयं जिसे दृढ़ बनाया था इस काल में उसमें आशातीत प्रगति दिखाई देती है। कमलाचरण मिश्र का *अद्भुत नाटक*

(१८८५); रतनचंद का *न्याय-सभा* (१८९२); दरियावसिंह का *मृत्यु-सभा* (१८९६); शंकरानंद का *विज्ञान* (१८९७) और किशोरीलाल का *नाट्यसंभव* (१९०४) इस धारा के उल्लेखनीय नाटक हैं। इनमें भावों और विचारों का मानवीकरण किया गया है। इसको पूर्ण नाटक न कहकर एकांकी नाटक ही कहना उचित है। *नाट्यसंभव* का परिचय अन्यत्र दे दिया गया है।

एक और मौलिक धारा जो भारतेन्दुकाल की विशेष सम्पत्ति है वह है उसके *प्रहसन*। नाट्य शास्त्रों ने नाटकों में रस की व्याख्या करते हुए हास्य को भी स्थान दिया है; यद्यपि शृंगार रस के समान उन्होंने इसका सूक्ष्म विवेचन नहीं किया। हास्य के लिए तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है। हास्य का विषय वही वस्तु या क्रिया हो सकती है जिसकी विकृतता में अथवा जिसे सामान्य से असामान्य बनाने में मनुष्य का हाथ हो। दूसरी बात उसके लिए यह आवश्यक है कि परिस्थिति ऐसी हो जिसमें भावुकता या किसी प्रकार की गंभीरता का अभाव हो क्योंकि हँसी के लिए ये दोनों अनावश्यक ही नहीं वरन् परम शत्रु हैं। हँसी सदैव शांत और अविचलित अवस्था में आया करती है। किसी करुण या वेदनापूर्ण स्थिति में नहीं। इसके अतिरिक्त परिहास का आनन्द उठाने वाले के लिए भी यह आवश्यक है कि वह उसके आलंबन से पूर्णतया परिचित हो। प्रायः देखा जाता है कि किसी व्यंग्य चित्रावली को देखकर या प्रतिदिन के पत्रों में प्रकाशित होने वाले विनोद पूर्ण वाक्य को सुनकर कुछ लोग तो एक दम हँस पड़ते हैं और कुछ के ऊपर उसका प्रभाव ही नहीं पड़ता। जिनको पत्रों में प्रतिदिन छपने वाले समाचारों की पूरी जानकारी होती है वह उन्हें व्यंग्य रूप में देखकर या सुनकर हँस पड़ते हैं। अंगरेजी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'शंकर्स वीकली' में शंकर की व्यंग्य-चित्रावली का यही प्रभाव पड़ता है। अतएव हास्य के लिए ये तीनों बातें आवश्यक हैं। हिन्दी-साहित्य में समकालीन नाटकों में

गंभीरता बढ़ती चली जा रही थी और उसे पढ़ते-पढ़ते पाठक-मण्डली भी ऊकता जाती थी, इसी की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे नाटकों की यह धारा चली। एक कारण और भी हो सकता है। प्रहसनों में किसी विषय पर परिहास के साथ तीव्र व्यंग्य भी होता है। कभी-कभी यह व्यंग्य मानव दय पर तीर का काम करता है। जो बात साधारणतया कह देने में संभव नहीं होती वह वक्रोक्ति से पूरी हो जाती है। इसलिए भी संभव है समाज की उन्नति के लिए व्यग्र होने वाले इन लेखकों ने जनता तक अपना संदेश पहुँचाने के लिए प्रहसनों का माध्यम स्वीकार किया हो।

कुछ भी हो भारतेन्दु काल में अनेक प्रहसनों की रचना हुई जिनमें से उल्लेखनीय हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी के *जय नारसिंह की* (१८७६); *रक्षाबंधन* (१८७८); *स्त्रीचरित्र* (१८७९); *एक-एक के तीन-तीन* (१८७९); *कलयुगी जनेऊ* (१८८६) और *बैल छै टके को* (?) तथा *सैकड़ों में दस दस* (?); बालकृष्ण भट्ट का *शिक्षादान* या *जैसा काम वैसा परिणाम* (१८७७); रविदत्त कृत *देवाक्षर चरित* (१८८४); हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का *ठगी की चपेट* (१८८४); पन्नालाल का *हास्यार्णव* (१८८५); प्रतापनारायण मिश्र का *कलिकौतुक रूपक* (१८८६); राधाचरण गोस्वामी का *बूढ़े मुँह मुहासे* (१८८७); रामशरण शर्मा का *अपूर्व रहस्य* (१८८८); राधाचरण का *तन, मन, धन गोसाँई जी के अर्पण* (१८९०); तथा *भंगतरंग* (१८९२); माधव प्रसाद का *हास्यार्णव का एक भाग* (१८९१); किशोरीलाल गोस्वामी का *चौपट चपेट* (१८९१); गोपालराम गहमरी का *दादा और मैं* (१८९३) तथा *जैसे को तैसा* (?); नवलसिंह चौधरी का *वेश्या नाटक* (१८९३); वचनेश मिश्र का *हास्य* (१८९३); विजयानंद का *महा अंधेर नगरी* (१८९२); देवदत्त शर्मा का *अति अंधेर नगरी* (१८९५); राधाकान्त लाल का *देसी कुत्ता विलायती बोल* (१८९८) और बलदेवप्रसाद मिश्र का *लल्लाबाबू* (१९००)।

इन प्रहसनों के विषय हैं—वेश्या-वृत्ति का परिणाम, वेश्या-

गामी का दुखी जीवन और सती पत्नी की असहायता, धार्मिक पाखण्ड और उसके द्वारा समाज की हानि तथा अ नीति पूर्ण आचार का बुरा परिणाम। बालकृष्ण का *जैसा काम वैसा परिणाम*, प्रतापनारायण का *कलिकौतुक रूपक* एवं किशोरीलाल का *चौपट चपेट* तीनों एक ही प्रकार के प्रहसन हैं। इनका विषय और उसका प्रतिपादन भी एक ही जैसा है। राधाचरण जी के प्रहसन औरों की अपेक्षा अधिक नूतनता के द्योतक एवं मनोरंजक हैं परन्तु उच्चकोटि का व्यंग्य उनमें भी नहीं है। भारतेन्दु के प्रहसन इनके समक्ष कहीं उच्च हैं। आलोच्य नाटकों के विषय तो परिहास के लिए उपयुक्त हैं परन्तु परिस्थिति, आचार-विचार का हास्य उनमें कम है। श्लिष्ट शब्दों अथवा अनहोने नामों द्वारा हास्य का व्यर्थ प्रयत्न इनके प्रधान लक्षण हैं।

इन प्रहसनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उस युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चिंताधारा के ये सच्चे प्रतिनिधि हैं।

उपरोक्त मौलिक धाराओं के अतिरिक्त भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित अनुवाद और रूपान्तर नाटकों की परम्परा इस युग में भी अक्षुण्ण बनी रही।

अनुवादों में प्रधानता संस्कृत, अङ्गरेजी और बँगला नाटकों के अनुवादों की थी।

संस्कृत अनुवाद

संस्कृत के प्रायः सभी अच्छे अच्छे नाटकों के अनुवाद इस युग में प्रस्तुत किए गए। भवभूति के *उत्तरराम-चरित* का अनुवाद क्रमशः देवदत्त तिवारी (१८७१), नंदलाल विश्वनाथ दूबे (१८८६) और लाला सीताराम (१८९७) ने किया; *मालती-माधव* का अनुवाद लाला शालिग्राम (१८८१) ने और सीताराम (१८९८) ने किया; *महावीर-चरित* का अनुवाद केवल लाला सीताराम (१८९७) ने किया। कालिदास का

शकुन्तला (१९०२) ज्वालाप्रसाद मिश्र के हाथों में पड़ कर अपने सारे सौन्दर्य को नष्ट कर बैठा। प्रस्तावना में तो मिश्र जी ने उसे अपना ही रचा हुआ बता डाला। और उसका पद्य तो जैसे बिलकुल आभा ही खो बैठा। नंदलाल विश्वनाथ दूबे का अनुवाद (१८८८) इनसे अच्छा है। ला० सीताराम ने सन् १८९८ में *मालविकाग्निमित्र* का सुन्दर अनुवाद किया। *प्रबोधचन्द्रोदय* के भी इस युग में दो अनुवाद हुए—पं० शीतलाप्रसाद द्वारा १८७९ में और अयोध्याप्रसाद चौधरी द्वारा १८८५ में। *वेणीसंहार* का अनुवाद अम्बिकादत्त व्यास (?) ने और ज्वालाप्रसाद मिश्र (१८९७) ने किया। ये दोनों सफल अनुवाद हैं। *मृच्छकटिक* के कई अनुवाद हुए—गदाधर भट्ट का (१८८०), दयालसिंह ठाकुर का (?), दामोदर शास्त्री का (?), बालकृष्ण भट्ट का (?) और लाला सीताराम का (१८९९)। *रत्नावली* का अनुवाद देवदत्त तिवारी ने १८-७२ में, रामेश्वर भट्ट ने १८९५ में और बालमुकुन्द गुप्त ने १८९८ में (परिवर्धित संस्करण) किया। इन अनुवादों में गुप्तजी का अनुवाद सब से अच्छा है।

इनके अतिरिक्त ला० सीताराम ने *नागानंद* का भी अनुवाद (१९००) किया। इन अनुवादकों में से नंदलाल विश्वनाथ दूबे ने यह भी प्रयत्न किया कि संस्कृत छंदों को हिन्दी में अपनाया जाय। संस्कृत नाटकों में सर्वप्रिय भवभूति के नाटक रहे।

बँगला अनुवाद

सब से पहले *हिन्दी-प्रदीप* में माइकेल मधूसूदन दत्त के *पद्मावती* और *शर्मिष्ठा* का अनुवाद क्रमशः सन् १८७८ और १८८० में निकला। यह अनुवाद कुछ दिनों तक चलते रहे परन्तु पूर्ण अनुवाद पत्र में प्रकाशित नहीं हुआ। अनुवादक या लेखक का नाम प्रायः पत्र के किसी अङ्क में भी नहीं दिया जाता था। अतएव यही प्रतीत होता है कि दोनों

अंशीय अनुवाद भट्ट जी के ही थे। धनंजय भट्ट की भूमिकाओं से भी यही प्रगट होता है। परन्तु *शर्मिष्ठा* का अनुवाद श्री रामचरण शुक्ल ने किया था जैसा कि बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है। *

परन्तु ये अपूर्ण अनुवाद हैं अतएव इनके सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जा सकता।

इनके अतिरिक्त गाजीपुर के वकील उदितनारायण लाल ने *अश्रुमती नाटक* (१८९५) एवं मनमोहन वसु कृत *सती नाटक* का (१८८९) अनुवाद किया। दोनों अनुवाद अच्छे हैं परन्तु पहले नाटक की अपेक्षा दूसरा नाटक उत्कृष्ट है। इनके एक और नाटक *दीप-निर्वाण* का भी उल्लेख है। संभव है यह भी किसी नाटक का अनुवाद ही हो।

बाबू रामकृष्ण वर्मा ने तीन नाटकों के बहुत ही सुन्दर अनुवाद किए—राजकिशोर दे कृत *पद्मावती* (१८८८); माइकेल मधुसूदन कृत *कृष्णाकुमारी* (१८९९) और द्वारिकानाथ गांगुली कृत *वीरनारी* (१८९९)। शिवनंदन त्रिपाठी ने १८९६ में *नवाब सिराजुद्दौला* (लक्ष्मी नारायण चक्रवर्ती कृत) का अनुवाद प्रकाशित किया। ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर के *सरोजिनी* नाटक के भी दो अनुवाद प्रकाशित हुए—एक सन् १८८१ में चर्च मिशन यंत्रालय प्रयाग से निकला था और दूसरा पं० केशवप्रसाद मिश्र का १९०२ में भारत-जीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ। मिश्र जी का अनुवाद मौलिक नाटक का आनन्द देता है। पद्य अंश के अनुवाद में अवश्य थोड़ी शिथिलता है। गणेशदत्त कृत एक *सरोजिनी* नाटक का उल्लेख भारतेन्दु ने अपनी सूची में किया है परन्तु निश्चित नहीं यह *सरोजिनी* अनुवाद है अथवा मौलिक।

बँगला के दो प्रहसनों के अनुवाद भी इस काल में हुए। गोकुल-

---

* हिन्दी नाटक साहित्य, पृ० १६०।

चंद ने बूड़ो शालिकेर वाहन का अनुवाद बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे के नाम से किया और ब्रजनाथ शर्मा ने माइकेल मधूसूदन के एई कि बोले सभ्यता का अनुवाद क्या इसी को सभ्यता कहते हैं (१८८४) भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित कराया। राधाचरण गोस्वामी द्वारा लिखित बूढ़े मुँह मुँहासे (१८८७) भी प्रसिद्ध है। निश्चय नहीं कि यह मौलिक है अथवा बँगला के प्रहसन का रूपान्तर।

पं० केशवराम भट्ट ने शरत और सरोजिनी के आधार पर सज्जाद-संबुल (१८७७) और सुरेन्द्र-विनोदिनी के आधार पर शमशाद-सौसन (१८८०) की रचना की। सज्जाद-संबुल में सज्जाद और संबुल के प्रेम की कथा है। नायक और नायिका दोनों मुसलमान हैं। प्रगतिशील दृष्टिकोण के सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, समाज के अनावश्यक बंधनों को तोड़ फेंकने के पक्षपाती हैं। इस नाटक की भाषा बड़ी सुन्दर और रसीली है यद्यपि उर्दू प्रधान है और विषय के बहुत ही उपयुक्त है। शमशाद सौसन में रो (Roe) महाशय एक ज्वाइंट मजिस्ट्रेट हैं। वह बदमिजाज सिविलियन ब्रिटिश नौकरशाही का अच्छा नमूना है जो अपने को विजयी देश का बताकर भारत को घृणा की दृष्टि से देखता है और न्याय-अन्याय का भेद भाव न कर मनमानी करने में नहीं हिचकता। शमशाद भी एक वीर, शिक्षित, राष्ट्र-प्रेमी और निर्भीक युवक की भाँति उसका मुकाबला करता है। उससे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जागृति का अच्छा परिचय मिलता है।*

ये दोनों रूपान्तरित नाटक हिन्दी में भारतेन्दु-काल में बहुत अच्छे निकले और इन्होंने भारतेन्दु की रूपान्तरित धारा का प्रवाह टूटने नहीं दिया। इसी सम्बन्ध में एक तीसरा नाटक और उल्लेखनीय है और वह है प्रभास-मिलन (१८९९)। इसके ऊपर दुर्गाप्रसाद मिश्र

---

*डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ० १२५।

का नाम है परन्तु अन्दर उन्होंने कहा है कि पुस्तक बंगभाषा के *प्रभास यज्ञ* का हिन्दी रूपान्तर है और इनका सारा श्रेय मधूसूदन लाल को है। उनका कथन इसका द्योतक है कि मिश्र जी केवल निमित्त मात्र हैं। कुछ भी हो ये तीनों रूपान्तरित नाटक कला और साहित्य की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं।

अँगरेजी अनुवाद

अङ्गरेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद भी इस काल में हुआ। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अङ्गरेजी लेखकों में अनुवादकों का प्रिय रचनाकार शेक्सपियर रहा।

सब से पहले तोताराम जी ने १८७९ में जोजेफ एडीसन के Cato का *केटो कृतान्त* के नाम से अनुवाद किया। अनुवाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुस्तक अप्राप्य है। शेक्सपियर का Merchant of Venice अनुवादकों का प्रिय नाटक रहा। उसके कई अनुवाद हुए। बालेश्वर प्रसाद और दयाल सिंह ठाकुर ने *वेनिस का सौदागर* नाम से इसका उल्था किया। कब और कैसा? कुछ नहीं कहा जा सकता। सन् १८८८ में जबलपुर की आर्या नामक महिला ने *वेनिस नगर का व्यापारी* नाम से इसका अविकल अनुवाद किया। यह अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में है तथा अनुवादिका को इसमें पूरी सफलता मिली है। शेक्सपियर के अन्य नाटकों में से रतनचन्द जी ने Comedy of Errors का *भ्रम-जालक* के नाम से सन् १८८७ में एक अनुवाद किया। यह स्वतंत्र अनुवाद है और अनुवादक ने मूल कथा-वस्तु को सुरक्षित रखते हुए उसे भारतीय वातावरण प्रदान किया है। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने As You Like It और Romeo Juliet का अनुवाद *मन भावन* (१८९६) और *प्रेमलीला* (१८९७) के नाम से किया। पुरोहित जी

के दोनों अनुवाद मूल के अधिक अनुकूल हैं। शेक्सपियर के Macbeth का अनुवाद 'प्रेमघन' जी के भाई मथुराप्रसाद उपाध्याय ने *साहसेन्द्र साहस* के नाम से १८९३ में किया। यह भी स्वतंत्र अनुवाद है और कथानक को भारतीय आवरण दे देने का प्रयोग है। सन् १९०३ में जयपुर मेडिकल डिपार्टमेंट के सेकिंड क्लार्क पं० बद्रीनारायण बी० ए० ने King Lear का अनुवाद किया। यह अनुवाद सब गद्य में हैं। भाषा साफ और सुथरी है परन्तु कहीं कहीं भावों को समझने में कठिनता होती है।

नाटक साहित्य का कलात्मक विकास

भारतेन्दु काल के अनुवादित एवं रूपान्तरित नाटक साहित्य में से किसी का कोई स्पष्ट प्रभाव नाटक-सृजन एवं उसके विकास पर नहीं पड़ा। संस्कृत के नाटकों के अनुवादों ने केवल प्राचीन नाटक-साहित्य को पढ़े लिखों में जानकारी होने का ही कार्य किया। अङ्गरेज़ी के अनुवाद और रूपान्तर भी संख्या की श्रीवृद्धि में सहायक रहे। वास्तव में यदि देखा जाय तो उनके यथातथ्य सुन्दर अनुवाद हुए भी नहीं। १९०४ तक अङ्गरेज़ी का पठन-पाठन इतना अधिक हो जाने पर भी अङ्गरेजी अनुवादों का अभाव एक आश्चर्य-जनक सत्य है। बँगला ने एक दो नाटकों के लिखने में कुछ अधिक सहायता की परन्तु पूर्ण रूप से इस भाषा साहित्य का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। एक बात यह अवश्य दृष्टि-गोचर होती है कि Scene का पर्याय बंगभाषा में 'गर्भांक' है और यही प्रयोग हमें हिन्दी के आरम्भिक नाटकों में मिलता है। यद्यपि 'गर्भांक' मूल में संस्कृत का शब्द है परन्तु उसका प्रयोग संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार वर्जित विषयों अथवा उसी के समान मूल कथानक से सम्बन्धित परन्तु रस-निष्पत्ति में बाधक कार्य-व्यापार को बताने के कारण होता है। बँगला और हिन्दी में इसका

प्रयोग संस्कृत के अनुसार नहीं है। अतएव संभव है हिन्दी पर यह प्रभाव बँगला का ही पड़ा हो। आगे चलकर इसका चलन उठ गया।

कथानक

आलोच्य काल की मूल प्रेरणा उसकी मौलिक चिंता-धारायें ही हैं और उन्हीं से नाटक-साहित्य के कलात्मक विकास पर प्रकाश पड़ता है। भारतेन्दु की अपेक्षा उनके समकालीन लेखकों की विचारों की बहुमुखी धारा स्पष्ट है। नये नये विषयों का समावेश बढ़ती हुई जन-जागृति में आवश्यक भी था और स्वाभाविक भी। इन नूतन प्रेरणाओं को लेकर उनके प्रतिपादन की शैली में भी पर्याप्त विकास हुआ।

नाटककारों में से अधिकांश लेखकों की केवल एक-एक ही रचना है और वही उनकी प्रतिभा का आदि और अंतिम उदाहरण है। फिर भी हम देखते हैं कि थोड़े से दिनों तक संस्कृत के मंगलाचरण और प्रस्तावना तथा भरत-वाक्य वाला रूप चला पर आगे वह बंद हो गया। विशेषकर समस्या-प्रधान नाटकों में कुछ को छोड़कर लेखक ने नाटकों का आरंभ एकदम करने लग गये। अङ्कों और दृश्यों म कथा-वस्तु का विभाजन कर उन्होंने कार्य-व्यापार, स्थान और समय के त्रिसमन्वय को दृढ़ रूप दिया। जिनमें यह नहीं हो पाया उन्हीं के नाटकों में शिथिलता और ढीलापन आ गया जिसके कारण वे अरुचि-कर प्रतीत होने लगे। बालकृष्ण भट्ट का *दमयन्ती-स्वयंवर*, श्रीनिवास दास का *संयोगिता-स्वयंवर*, खड्गबहादुर मल्ल की *हरतालिका*, राधा-कृष्णदास की *दुखिनी बाला*, लाला शालिग्राम के प्रायः सभी नाटक आदि कथा-वस्तु के विकास की दृष्टि से बहुत ही शिथिल हैं। यद्यपि संवाद की दृष्टि से *दमयन्ती-स्वयंवर* एक अनुपम नाटक है। इनके विपरीत *रणधीर-प्रेम-मोहिनी*, *महाराणा प्रताप*, *अमरसिंह राठौर*, प्रतापनारायण का *भारत दुर्दशा*, *नाट्य-संभव*, *नंदविदा* आदि नाटकों की कथा-वस्तु का

विकास बहुत कलात्मक है। *मयंक-मंजरी* और *चन्द्रकला-भानुकुमार* के कविता बाहुल्य और लंबे भाषणों पर यदि ध्यान न दिया जाय तो वे भी मध्यम कोटि में आ सकते हैं। भाषणों की लंबाई छोड़कर कन्हैया-लाल का *अंजनासुन्दरी* नाटक भी उल्लेख योग्य है। प्रभुलाल के *द्रौपदी-वस्त्रहरण* के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

कथावस्तु जटिल नहीं हो पाई है। सरल होने के कारण सुगमता से समझ में आ जाती है।

पात्र

पात्रों में प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों का प्रवेश हुआ। पौराणिक नाटक-धारा में ऋषि और मुनि, देवी-देवता सभी प्रकार के पात्र नाटकों के नायक-नायिका एवं प्रमुख, गौण पात्र बने। मानुषिक पात्रों की अवश्य प्रधानता रही। राजा, प्रजा, मंत्री, नेता, वेश्यागामी, सुधारक, शिक्षित, अशिक्षित, मूर्ख, बुद्धिमान, धर्मी, विधर्मी, सभी प्रकार के मानवों के चरित्र अंकित किए गए। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति वाला जीवन का उद्देश्य इस युग में न रहा। हमारी परिस्थितियों के अनुकूल जैसे वातावरण में जिस पात्र की आवश्यकता हुई लेखक ने उसी के अनुकूल समाज-भंडार में से उसे निकाल कर खड़ा कर दिया।

ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र तो सफलतापूर्वक अङ्कित हुए ही अन्य मानवी चरित्रों का चित्रण भी अच्छा हुआ। पुरुषों में रणधीर, वेणु, भागुरायण (*दमयन्ती-स्वयंवर में*) आदि सफल चरित्र हैं। स्त्रियों में अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की कमी है। युगों से पराधीन नारी अपने अधीनता के भाव से विद्रोह करने में प्रयत्न-शील नहीं हुई। उसे इसका ज्ञान भी नहीं हो पाया। अतएव सभी स्त्रियों में प्राचीन परम्परा-जन्य कुलीनता और सौम्यता है या फिर बिलकुल निर्लज्जता और फूहड़पन है। गोकुलचन्द की स्त्री जानकी (*तन मन धन गोसाईं जी के अर्पन में*) जैसी

भी केवल अपवाद स्वरूप है। यदि परकीया का रूप देखना हो तो कलिकौतुक रूपक की श्यामा प्रस्तुत है।

सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को मनुष्य पद पर बैठाने का प्रयत्न किया गया है। उसे अपनी बुद्धि और ज्ञान के आधार पर चारों ओर देखकर कार्य करने की प्रेरणा है, केवल देवताओं और अतिमानुषी पात्रों की ओर मुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं। पोप-लीलाओं से निकाल कर, समाज का पुनर्संगठन और जातीय विकास इन चरित्रों का प्रधान लक्षण है क्योंकि उन्हें आत्म-विश्वास और अपने को पहचानने की प्रेरणा दी गई है।

चरित्र-चित्रण में केवल एक भारी दोष रह गया है और वह यह है कि कहीं भी नाटककार अपने व्यक्तित्व को पात्र से अलग नहीं कर पाया है।

संवाद

वार्तालाप और भाव विचारों के व्यंजित करने की सभी शैलियों का समावेश इन नाटकों में है। 'स्वागत' की भी भरमार है, लम्बे चौड़े व्याख्यान भी हैं, तर्कपूर्ण वाक्यों की भी कमी नहीं। व्यंग्य और शिष्टता भी उनमें मिलेगी। भाषा की सजीवता और उसकी शक्ति का दर्शन इस युग के नाटकों में अच्छा मिलता है। आरम्भ में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का मिश्रण भी दिखाई पड़ता है। *उद्धव वशीठ* जैसे नाटक में ब्रज भाषा की ही प्रधानता है परन्तु प्रवृत्ति यही है कि खड़ी बोली का स्वच्छ और परिमार्जित रूप व्यवहृत किया जाय। समस्याओं के सुलझाने और हृदय-भावनाओं को प्रकट करने में सरल हिन्दी का प्रयोग वांछनीय ही है। नौकरों चाकरों से अथवा किसी स्थान विशेष के पात्रों से स्थानीय रंग देने के कारण उन्हीं की बोलचाल की भाषा का व्यवहार भी कुछ नाटक-लेखकों ने किया है। ऐसा करने से

उसमें स्वाभाविकता भी आगई है और एकरसता भी मिट गई है।

भाषा पात्र और समय तथा स्थान के अनुकूल है। कुछ उदाहरण उस समय के संवादों के देखिए—

रणधीर-प्रेम मोहिनी (सन् १८७७) से—

[रणधीर, प्रेममोहिनी और उसकी सखी मालती एक साथ हैं। पहली मुलाकात है। बुता देकर मालती को भागना चाहते देखकर]

प्रे० मो०—तो क्या मुझको अकेली छोड़ जायगी ?

मालती—अकेला क्यों ? तुम्हारा रखवाला तुम्हारे पास है।

(भाग गई)

रणधीर—(उसके जाते जाते) क्यों झूँठी आस बँधाती हो ? पर्वत पर कुँवा खोदने से कहीं जल निकला है ?

प्रेम०—वहाँ सोत नहीं, पर झरने का जल मिलेगा।

रण०—परन्तु काले कंबल पर दूसरा रंग तो नहीं चढ़ता।

प्रेम०—देखो, ममीरा के लगते ही उसका रंग पलट जाता है।

रण०—जैसे चकोर को चन्द्रमा देखे बिना मद नहीं आता तैसे अच्छे मनुष्य भी पराये धन से सदा बचते हैं।

प्रेम—परन्तु चकोर चन्द्रमा को सूर्य समझ कर दूर भागे तो दोष किसका ?

रण०—चकोर का।

(प्रेम ने हँस कर सिर नीचा कर लिया)

रण०—(मन में)..............................। (प्रगट) मैं तुम्हारी पहेली जा अर्थ समझ गया पर इससे पहले मुझको तुम्हारी प्रीति का प्रमाण मिलना चाहिए।

प्रेम०—सहृदय मनुष्य को तो उसका हृदय ही प्रमाण था पर आप इसके प्रमाण में अपनी अँगुली की अँगूठी देखिये।

रण०—(अँगूठी देखकर, मन में)........(प्रकट) बात बनाने

में पुरुषों की अपेक्षा स्त्री स्वभाव से चतुर होती है।

प्रेम०—(उदास होकर)—क्यों जी पारस लोहे को सोना बनाता है पर लोहा पारस को छोड़कर चकमक पत्थर से क्यों प्रीति करता है ?

रण०—ये उसका स्वभाव है।

प्रेम—हाय! दैव ने सब के सुभाव उलटे बनाये हैं। देखो सूर्य की गरम किरणों से कोमल कमल का खिलना और चन्द्रमा की कोमल किरणों से चन्द्रकान्तमणि का पिघलना सब तरह उलटा दिखाई देता है।

रण०—ये ईश्वर की शक्ति है।

प्रेम०—तो उसी शक्ति से सूर्यमुखी का सूर्य पर मोहित होना समझो!

रण०—(मन में) इसकी कल्पलता सी वाणी से प्रेम सुगन्धित पुष्प तो जरूर झड़ते हैं, परन्तु इसके आगे से हटकर इसकी परीक्षा लेनी चाहिए। (प्रगट) ऐसी बातों से तो कामी पुरुष मोहित होते हैं। मेरे ऊपर तुम्हारा मोहिनी मंत्र नहीं चल सकता!

(कुछ आगे बढ़कर एक वृक्ष की ओट में छिप गया)

कलि कौतुक रूपक (सन् १८८६) से—

[नाटक के नायक और कलिकाल के प्रतिनिधि भले मानस किशोरीदास जो पत्नी को छोड़कर लशकरीजान से प्रेम करते हैं अपने उर्दू-भक्त मित्र शङ्करलाल और बिगड़ैल देहाती चंडीदत्त तथा अंगरेजीबाज मित्र मायादास के साथ]

कि०—हाँ मुंशी जी अब फरमाइए क्या कहते थे?

शं०—......(धोती से बोतल निकाल के) यही कहना था। कहो! और सब मुआमिला तैयार है न?

कि०—सो तो मीर साहब चार बजे ही रख गए थे। जरा गरम करना है।

(नेपथ्य से मांस की रकाबी लाता है)

चं०—फिर का झखमारैं का देर कर थौ।

कि०—सिर्फ उन्हीं की देर है (नेपथ्य में छड़ों का शब्द सुन के)

लीजिए. अहा! 'तन में जान आ गई फिर पाँव की आहट सुन कर'। यार! हो तो खुशनसीब।

(लशकरीजान और नब्बू का प्रवेश)

ल०—कौन खुशनसीब है बेटा!

शं०—बस, 'लब पर है जिसके जाम बग़ल में हबीब है।
उसके सिवा भी और कोई खुशनसीब है॥'

सब—यह इनके बेटा बोले। ह! ह! ह! ह!

च०—तो फिर 'अब विलम्ब केहि काज?'

ल०—इस भँडुए की गँवारी बोली न गई।

चं०—तौ का! हम तुरुक आहिन?

शं०—क्या साहब! हम लोग तुरुक हैं जो उर्दू बोलते हैं?

चं०—उर्दू छिनारि कै बोलैया सब सार तुरके आहीं।

(सब हँसते हैं—शंकर लज्जित होता है)

कि०—तो भाई किवाड़े बन्द करो अब देर नाहक है।

न०—मैं हजूर लगाता आया हूँ।

सब—ह ह ह सदा से......(सब कई बार खाते पीते और बहकते हैं)

ल०—(अपने पात्र में चंडी को पिला के) अब तो बचा तुरुक हुए?

चं०—ई बिटिया! हम तुरुक, हमार पुरखा तुरुक! कौन्यो सारे का मिलै कहाँ?

कि०—क्यों जान साहब! हम को नहीं?

ल०—तुझको? (उपानह प्रहार) यह है। (सब हँसते हैं)

कि०—अहा हा! खोपड़ी तर हो गई! पुरखे तर गए! (लिपट के) 'अजब लुत्फ़ है यार की जूतियों का।'

शं०—मैं मुश्तहक हूँ प्यार की—

ल०—'जूतियों का'—तो ले! (प्रहार, सब हँसते हैं)

मा०—भई, सच तो यह है कि इस का सा मज़ा किसी में नहीं।

अगरचे हम Atheists हैं; खुदा और नर्क वैकुण्ठ वगैरह को नहीं मानते सिर्फ लोगों के दिखलाने को चंद बातें हिन्दुओं की सी रखते हैं, पर इस वक्त सच्चे जी से कहते हैं। अगर इस जिन्दगी में या मरने के बाद कहीं कोई मज़े की हालत है, वैकुण्ठ, मुक्ति या Heaven जो कहो इसी Wine में है। और कुछ हो अपना तो Motto यही है—eat, drink and be merry, tomorrow we shall die।

चन्द्रकला भानुकुमार (सन् १९०४) से—

[भानुकुमार अपने मित्र प्रतापकुमार से नायिका-भेद पर वार्तालाप कर रहे हैं। साथ में काव्य-रसिक सत्संगी शारंगधर भी हैं।]

प्र०—लीजिये अब आप पुरुषाभिसार पढ़िये।

शा०—ये पुरुषाभिसार कैसे पढ़न पावेंगे। अबै तो केवल शुक्लाभिसारिका भई है, दिवसाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, हरिताभिसारिका, अरुणाभिसारिका, पीताभिसारिका, होलिकाभिसारिका, दीपमालाभिसारिका पहिले हो जायेंगी तब तो पुरुष फटकन पावेंगे। (हास्य)

भा०—नहीं भाई ! मैं इस लम्बी तालिका ही को सुन कर घबरा गया। फिर पिता भी क्षणमात्र में यहाँ पधारने वाले हैं।

शा०—अच्छा ! तो और काहू समै "अभिसार की ठहरेगी।"

(हास्य)

प्र०—(गाम्भीर्य से) देखो ! काव्य कैसे आनन्द का पदार्थ है परन्तु शोक है कि अरसिकों का दल उस पर भाँति-भाँति के वार किया करता है। कोई कहता है कवि वातुल होते हैं। कोई कहता है कि कवि कामुक होते हैं। कोई कहता है कि काव्य पढ़ने से काम-चेष्टा प्रबल होती है। हा ! कैसे निर्मूल अपवाद हैं। मेरी समझ में तो कवि वही हो सकता है जो मर्मदर्शी है और मर्मदर्शी ही तो धर्मज्ञ धर्मोपदेशक हो सकते हैं। हाँ इतना मैं अवश्य स्वीकार करूँगा कि कतिपय शृंगार रस के कवियों ने कभी-कभी औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर डाला है। तथापि वे लोग

भी विद्वान् वा तत्त्वदर्शी नहीं कहे जा सकते जो नायिकाभेद के विमल कुसुमाकर की जड़ ही काटना चाहते हैं। समझदार के लिए नायिकाभेद सांसारिक जनों को रुचने वाले प्रकरणों के व्याज से विनोद का हेतु और उपासना का उत्कृष्ट सहायक है। अब दुर्व्यसनी लोग नायिकाभेद से वा शृंगार रस के किसी काव्य से काम-वासना का सेवन करने लगें तो वह उनकी अपवित्रशीलता का दोष है काव्य का नहीं।......

मित्र०—कदापि नहीं; कदापि नहीं।

शा०—अजी दोस देनवारे आपु ही जड़ और रूखे होय हैं। वे विचारे कहा जानैं कविता को रस,

जे साहित्य संगीत के जानत भेद न कुच्छ।
वे जन पूरे बैल हैं बिना सींग अरु पुच्छ॥ (अतिहास्य)

भा०—इसमें सन्देह नहीं है और तुम्हारा दोहा भी बड़ा बाँका है।

शा०—जैसे देव, वैसी स्तुति। भला अरसिक लोगों की स्तुति में हम बढ़िया छन्द क्यों रचें? जैसे वे तैसोई हमारो 'कुच्छ' 'पुच्छ' वारो दोहा।

(हास्य)

इन नाटकों में खटकने वाली चीज़ उच्चकोटि के गीति-काव्य का अभाव है। भारतेन्दु सुन्दर गीतों द्वारा इस ओर पथ-प्रदर्शन का कार्य कर गए थे परन्तु समझ में नहीं आता उनके समकालीन लेखकों ने इस ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान क्यों नहीं दिया। सम्भवतः इसके कई कारण थे—रीतिकाल की प्रतिक्रिया, जिसमें कविता के बाहुल्य की चरम-सीमा पहुँच चुकी थी और जिसमें कृत्रिमता का समावेश हो गया था, अब गद्य के सम्यक् विकास में दिखाई दे रही थी। कवियों को ब्रजभाषा का मोह भी बना था और ब्रजभाषा शास्त्रीय बन्धन में इतनी बँध चुकी थी कि उसमें स्वच्छन्द गीति-काव्य का सृजन असम्भव था; अथवा अँगरेज़ी सरकार की उर्दू-पक्षपात की नीति ने मुसलमान गायकों में—जो प्राचीन संगीत-परम्पराओं और गायिकायों के प्रतिनिधि थे—हिन्दी

गीतों से उदासीनता उत्पन्न कर उन्हें ग़ज़लों का प्रेमी बना दिया जिसके कारण गीत लिखने वालों को प्रोत्साहन न मिला। संगीत विद्या का वेश्याओं के जीवन-यापन का एक साधन बन जाना भी एक कारण था क्योंकि प्रतिष्ठित मध्यम वर्ग इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा था। संगीत कला के स्थान से गिर कर बाजारू वस्तु बन चुका था और गीति-काव्य की रचना स्वतः ऐसी अवस्था में उत्तेजना-प्रद नहीं थी।

उपसंहार

इस काल के साहित्य से पता चलता है; यद्यपि प्रेम-प्रधान नाटकों में कुछ लेखक शृंगार उपवन की झुरमुटों में ही आनंद लेने के पक्षपाती थे; सम्भवतः रीतिकाल का प्रभाव अभी तक मिट नहीं गया था परन्तु यह दशा पूर्वार्ध में ही अधिक थी। उत्तरार्ध के लेखकों ने विशेषकर जो कवि नहीं थे, संकुचित प्रेम-क्रीड़ास्थली को छोड़कर देश और जाति की समस्या के विशाल प्रांगण में प्रवेश किया। देवी देवताओं और शास्त्रोक्त नायक-नायिकाओं के सीमित क्षेत्र से वे मानवता के नवीन रूप और आदर्श की प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुए। आँख खोलकर उन्होंने देखा उनके सामने एक संघर्षपूर्ण संसार अपने कठोर सत्य का प्रदर्शन कर रहा है और यदि उन्हें अपना अस्तित्व बनाये रखना है तो उन्हें अपने चेतन-जगत के समीप आने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय और समस्या-प्रधान नाटकों की बहुसंख्या इसी नूतन चेतना का प्रमाण है। जैसे जैसे काँग्रेस जैसी राष्ट्रीय सस्थाओं का प्रभाव बढ़ता गया वैसे ही वैसे आर्त जनता भी अपनी विद्रोही भावनाओं का प्रदर्शन करती गई। यह १८५७ तक की उन क्रान्तियों का प्रभाव था जो बाह्य रूप में समाप्त हो चुकी थीं परन्तु राख के अन्दर अन्दर जिनके अंगारे धधक रहे थे।

इस काल के लेखकों में जो उपदेशक बनने की प्रवृत्ति दिखाई

पड़ती है वह भी इस आन्तरिक प्रेरणा का परिणाम है, कला-हीनता की द्योतक नहीं। समाज में दोष-चेतना द्वारा परिवर्तन कर वे उसे स्वस्थ बनाना चाहते थे जिससे भावी राष्ट्र की नींव सुदृढ़ हो सके। अपनी इसी उतावली में प्रधान लेखकों ने कला की पूर्णता की ओर ध्यान नहीं दिया केवल अपने संदेश को पहुँचाने में ही उन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। अन्यथा नाटक के लिए जिस प्रतिभा और ज्ञान तथा सामग्री की आवश्यकता थी वह सब उनके पास थी। यदि कमी थी तो स्थायी हिन्दी-रंगमंच की। कहीं इस काल में रंगमंच की स्थापना हो गई होती तो नाटकों के कलात्मक विकास का कुछ और ही रूप होता। बँगला का साहित्य इस मात्रा में हिन्दी से इसीलिए आगे बढ़ गया कि बँगला रंगमंच का निर्माण हो चुका था। हिन्दी भाषा-भाषियों के प्रान्त में अनेकमुखी सभ्यता और संस्कृति एवं बहु-भाषा प्रचार भी नाटक के सम्यक् विकास में बाधक हुआ। बंगाल की स्थिति इस दृष्टि से भिन्न थी। गुजरात और मराठी प्रान्त भी इस दृष्टिकोण से अधिक भाग्यशाली थे। फिर भी हिन्दी के नाटक-कोष को बिलकुल दिवालिया नहीं कहा जा सकता। उसके उज्ज्वल रत्न किसी भी प्रान्तीय भाषा के सामने अपने प्रकाश में मंद नहीं पड़ते।

नाट्य-विधान में अनेक आवश्यक परिवर्तन हुए। कथावस्तु के विषय के अतिरिक्त जिस पट पर उसकी कथा को सजाया गया उसमें अपनी ही निराली बहार थी। अँगरेजी सभ्यता के सम्पर्क ने पुराने लकड़ी के पाटों और जमीन के फर्श से हमें उठाकर कुर्सियों पर ला बिठाया और हमारे नाटककार अँगरेजी ढंग के सजे हुए कमरों में अपने पात्रों का कार्य-व्यापार दिखाने लगे। एक ही अंक में अनेक विभिन्न दृश्यों का समावेश इस नवीनता का मुख्य लक्षण था। पारसी रंगमंच ने इसमें बड़ी सहायता की; जीवन की प्रतिदिन की आवश्यकताओं ने इसमें सहयोग दिया।

गान विद्या और नृत्यकला को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि इस लुप्त विद्या का प्रचार संभ्रांत घरानों में अभी नहीं हुआ था पर समाज में एक निश्चित वर्ग द्वारा अपनाया जाकर अपने विकृत और अशास्त्रीय रूप में भी आगे चलकर यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। पक्के राग और रागिनियों के पुनरुद्धार का निर्माण इसी भग्नावशेष पर किया गया। यद्यपि रामलीला, रासलीला और सांगीत प्रणालियाँ अपने-अपने क्षेत्र में पहले जैसा ही कार्य करती रहीं और धार्मिक आचार प्रचार एवं मनोरंजन का साधन बनी रहीं।

प्रश्न हो सकता है कि इतनी अशान्ति और आन्तरिक असंतोष के होने पर भी हिन्दी में कोई क्रान्तिकारी नाटक क्यों न बना ? इसका उत्तर जन-नायकों का संयम और सरकारी दमन नीति ही है। फिर भी यह काल हिन्दी नाटक साहित्य का स्वर्णकाल था।

प्रमुख लेखक

बालकृष्ण भट्ट (१८४४—१९१४)

नाटक रचनाओं के सम्बन्ध में इतिहास-लेखकों में मतभेद है। बा० ब्रजरत्नदास जी ने भट्ट जी द्वारा लिखित छः नाटक माने हैं—*कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा* और *चन्द्रसेन*। (पृ० १२९)

माताप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक में केवल *'शिक्षादान'* का नाम दिया है।

भट्ट जी के सुपुत्र पं० धनञ्जय भट्ट 'सरल' ने अपने पिता द्वारा लिखित और स्वयं सम्पादित *दमयन्ती-स्वयंवर* नाटक (प्र० का० १९४२ अगस्त) के वक्तव्य में पृ० २ पर लिखा है—

"भट्ट जी ने महाकवि भारविकृत 'किरात' और महाकवि माघकृत 'शिशुपाल-वध' नामक काव्य-ग्रन्थों को भी नाटक रूप में लिखा है। इनके

अतिरिक्त इन्होंने और भी नाटक लिखे हैं जिनके नाम ये हैं—मृच्छकटिक, पद्मावती, शर्मिष्ठा, पृथुचरित्र, आचारविडम्बन आदि। ये सब नाटक अभी तक अप्रकाशित हैं।"

साथ ही साथ जुलाई सन् १९४२ में 'सरल' जी ने भट्ट जी के दो नाटक और प्रकाशित किए—*वेणु-संहार* तथा *जैसा काम वैसा परिणाम*।

इन सब सूचनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्व० भट्ट जी ने सब मिलाकर (प्रकाशित एवं अप्रकाशित) १५ नाटक लिखे।

कलिराज की सभा और *रेल का विकट खेल* नामक दोनों नाटकों के सम्बन्ध में धनंजय भट्ट का कहना है—

(कदाचित् सन् १८७२ ई० के लगभग 'कलिराज की सभा' शीर्षक इनका पहला लेख भारतेन्दु जी की 'कविवचनसुधा' में छपा था। इसके उपरान्त 'रेल का विकट खेल', 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' इत्यादि उनके कई लेख 'कविवचनसुधा' में निकले। उन सभी लेखों की प्रशंसा हुई। इसके बाद उनके लेख 'काशी पत्रिका', 'बिहार-बंधु' आदि में भी निकलने लगे।"†

इस उल्लेख से भी पता चलता है कि *कलिराज की सभा* और *रेल का विकट खेल* नाटक नहीं केवल लेख मात्र हैं और नाटकों की सूची में इनका नाम गलती से सम्मिलित कर दिया गया है। यदि ऐसा है तो भट्टजी के नाटकों की संख्या केवल १३ ही रह जाती है। इनमें से भी *पद्मावती* और *शर्मिष्ठा* बंगाली कवि माईकेल मधुसूदन दत्त के बँगला नाटकों के अनुवाद हैं अतएव उन पर अन्यत्र विचार किया जायगा। *मृच्छकटिक* भी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ का रूपान्तर प्रतीत होता है। *किरात* और *शिशुपाल वध* के नाटक रूप, *पृथुचरित्र* (इस नाटक का ही दूसरा नाम *वेणु-संहार* है। सन् १९०९ में '*प्रदीप*' की ३१वीं जिल्द में यह *पृथु-चरित्र* के नाम से छपना शुरू हुआ) और *आचारविडम्बन*

---

† भट्ट-निबंधावली।

धनंजय भट्ट के लेखानुसार अभी अप्रकाशित हैं; *चन्द्रसेन* देखने में नहीं आया और *शिक्षादान* एवं *जैसे को तैसा* एक ही हैं। अतएव भट्टजी की प्राप्य रचनायें केवल रह जाती हैं—

१. *दमयन्ती स्वयंवर*—इसका विज्ञापन सन् १८९४ में *हिन्दी-प्रदीप* में निकला। इसके पश्चात् सन् १८९७ ई० में *हिन्दीप्रदीप* में यह निकलना आरंभ हुआ और उसमें इसका नाम *'नल-दमयन्ती'* नाटक है। सन् १९४२ में धनञ्जय भट्ट ने इसका संपादन कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित किया।

यह दस अंक का नाटक है। आरंभ में नान्दी और फिर सूत्र-धार का प्रवेश है। उसके वक्तव्य के बाद प्रस्तावना समाप्त होती है और प्रथम अंक का आरंभ होता है। पाँचवें अंक में एक गर्भांक, सातवें अंक में तीन गर्भांक, आठवें अंक में चार गर्भांक और शेष अंकों में से प्रत्येक में केवल दो गर्भांक हैं।

प्रथम अंक में राजा नल दमयन्ती के विरह में व्याकुल दिखाये गए हैं परन्तु उनके विश्वस्त अमात्य भागुरायण 'ब्रह्मनई का यह धागा हाथ में ले कहते हैं कि हम ऐसे कुलीन महाब्राह्मणों के आशीर्वाद से यह स्वप्न सत्य हो!' समस्त नाटक में नल-दमयन्ती की पौराणिक कथा है और स्थान स्थान पर संस्कृत के श्लोक भी दे दिए गए हैं। वार्तालापों में बड़ी भावुकता है और वे कविता का आनंद देते हैं। अन्त में किसी प्रकार का भरतवाक्य नहीं है।

२. *वेणु-संहार*†—इसका रचना काल सन् १९०९ बताया गया

---

†इसी का दूसरा नाम पृथु-चरित्र है। हिन्दी-प्रदीप की ३१वीं जिल्द में सन् १९०९ में यह छपना आरंभ हुआ। 'वेणुसंहार' नाम 'सरल' जी का दिया हुआ है। अतएव पृथु-चरित्र और वेणुसंहार को एक ही नाटक मानना चाहिए।

हैं। यह भी एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। वेणु की दुष्टता और अपनी प्रजा पर उसका अत्याचार एवं ऋषियों के क्रोध द्वारा उसका संहार पौराणिक आख्यान है। उसी को लेकर भट्ट जी ने नाटक का रूप दिया है। इसमें तीन अंक हैं। आरंभ में प्रस्तावना है जिसमें नान्दी और सूत्रधार आदि हैं। पहले दूसरे अंक में तीन गर्भांक, और तीसरे में केवल दो गर्भांक हैं। नाटक में किसी का चरित्र-विकास नहीं दिखाया गया। स्वयं नायक के दर्शन केवल तीसरे अंक के दूसरे गर्भांक में होते हैं जो अन्तिम दृश्य है। सिंहासनारूढ़ वेणु अपने मुख से अपने दंभी सिद्धान्तों का वर्णन करता है और ब्राह्मणों को सब कुचक्रों का कर्ता मानता है।

इस नाटक के द्वारा लेखक ने स्वदेश की बुरी दशा और अनिष्ट राजा की उपस्थिति में प्रजा पर जो बीतती है, उसी का वर्णन किया है। राजा की हाँ में हाँ मिलाने वालों को पारितोषिक और न्याय का पक्ष ग्रहण करने वालों को दण्ड दिलाया गया है। संक्षेप में विदेशियों द्वारा अधिकृत भारतीय हृदय की पराधीनता का एक सजीव चित्र है।

३. *जैसा काम वैसा परिणाम* प्रहसन है। इस में पर-स्त्री-रमण का बुरा परिणाम दिखाया गया है। कलात्मक रूप से उच्चकोटि का नहीं।

नाट्य-विधान और कला—नाटककार की दृष्टि से भट्ट जी में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। उनकी कथा-वस्तु का विकास वैज्ञानिक ढंग से नहीं होता। प्रत्येक दृश्य एक एक घटना को लेकर चलता है और इसी कारण छोटे छोटे दृश्यों की उनके नाटकों में पर्याप्त संख्या हो जाती है। पाठक इससे तंग आ जाता है। उनके पात्रों के वार्तालप भी बड़े लंबे हो गए हैं। एक ही बार जैसे सारे उपदेशों का भाण्डार भट्ट जी लुटा देना चाहते हैं। वह अपने पात्रों को यह अवकाश नहीं देते कि उनके क्रिया-व्यापार से कोई अन्य पात्र परिणाम निकाले। प्रत्येक पात्र अपना चरित्र-चित्रण स्वयं ही है।

भट्ट जी की भाषा में अवश्य बड़ी प्रौढ़ता और अभिव्यंजना शक्ति है। उदाहरण देखिए—

(नल से मिलने पर)

दमयन्ती—शिष्टाचार में कुशल लोग कह गए हैं कि आये हुए अतिथि को सत्कार निमित्त जो साष्टांग प्रणाम है वही पाद्य है। प्रिय कोमल और मीठे अक्षरों से जो बोलना वही मधुपर्क है..........................किस देश को सूना कर आप यहाँ पधारे? नाम गोत्र सुन, क्या मैं अपने जन्म को कृतार्थ कर सकती हूँ?

नल—राजकुमारी! आभिजात्य और कुलीनता की प्रकाशक मैं तुम्हारी इन कोमल वाक्य पदावलियों से अत्यन्त प्रसन्न हुआ............। मैं देवताओं का जो संदेशा लेकर आया हूँ उसे यदि अनुग्रह पूर्वक अपने पवित्र मन मानस में स्थान दीजिये तो वही मेरी पहुँनाई है।..............। कल तुम्हारा स्वयंवर होने वाला है इसकी चर्चा इन देवताओं (इन्द्र, वरुण यम और अग्नि) तक पहुँची है। सो ये चारों देवता अकुला और तुम्हारे पाने के लिए आशाबद्ध हो हमें तुम्हारे पास भेजा है, मैं समझता हूँ कि इन चारों में एक किसी को तुम अवश्य सनाथ करोगी।

दमयन्ती—स्मर-सुन्दर! वाक्-चातुरी का यह अनोखा ढंग आप ही में देखा गया कि प्रश्न कुछ और, उत्तर कुछ और। हमने आपके पवित्र नाम और गोत्र तथा जन्म की पुण्य भूमि पूछी थी, आप कुछ और ही गाथा गा चले।.........जल की प्यास जल ही से बुझेगी।......

नल—बुद्धिमति! मेरी समझ में कुल और नाम दोनों का उद्‌घाटन अनावश्यक है, इसलिए उनके कहने में मेरी जिह्वा सर्वथा उदासीन भाव रखती है क्योंकि कुल यदि स्वयं उज्ज्वल नहीं है तो अपने मुख से उसका वर्णन कहाँ तक उसे उज्ज्वल कर सकेगा और यदि उज्ज्वल है तो हमारा दूत बन कर यहाँ आना कुल की यावत् ऊँचाई और गौरव को छार में मिलाता है।......

परिहासमयी भाषा पर तो भट्टजी की जैसे छाप लगी थी, उनके हृदय की सजीवता ऐसे अवसर पर देखने योग्य होती है। राजा नल दमयन्ती के विरह में व्याकुल हैं। भागुरायण उनका विश्वस्त अमात्य है। वह राजा को समझाने का प्रयत्न भी करता है और उनके मन में शान्ति उत्पन्न करने का साधन जुटाने का भी।

राजा—मित्र, आज मैंने भोर में, स्वप्न में एक ऐसी सुन्दरी देखी है कि उसकी देह की कान्ति (से) मानो चान्दनी मथली थी। उसी क्षण से मेरा मन मन्मथ के विकार से मथ रहा है।

भागुरायण—महाराज! मैं जान गया आप सचमुच महिमा लंपट हो। मित्र! तब क्या हुआ?

राजा—............तब से वह मेरे गले की हार हो गई है और मैं अपने चित्त के चित्रपट में उसे लिख, दास बन गया हूँ।

भागु०—(यज्ञोपवीत हाथ से छू) ब्रह्मनई का यह धागा हाथ में ले कहते हैं कि हम ऐसे कुलीन महाब्राह्मणों के आशीर्वाद से यह स्वप्न सत्य हो।

राजा—मित्र, कोई ऐसा उपाय सोचो जिसमें मेरा मनोरथ सफल हो।

भागु०—............अच्छा ठहरिये; मैं समाधि लगाये उसके मिलने का उपाय सोचता हूँ। पर देखिये, आप बीच ही में रोक कर कहीं मेरी समाधि न भंग कर देना।

(आँख मुँह नाक दबाय समाधि लगाता है)

(आँख खोलकर)—मित्र उसके मिलने का उपाय हमने सोच लिया।

राजा०—कहिये क्या?

भागु०—यह कि उस राँड की जाई का एक बार फिर ध्यान कर गहरी नींद में गड़गाप हो जाइये। अपने मनोरथ को जल्द पा जाओगे।

मुहावरों के प्रयोग से भट्ट जी अपनी भाषा को और अधिक रोचक एवं प्रभावशाली बना देते हैं। 'यह सृष्टि अनादि काल से चली

आई है और चली जायगी, इसका कर्ता धर्ता विधाता मानना राँडों की गीत है,' 'बहुत कुछ इधर उधर उछलती खच्चरी-सा कावा मारा और हमारे चंगुल से अलग हो भागना चाहा पर तेरी एक भी न चली' अथवा 'पण्डिताई को कहो तो हमारी इस पाग और पाव भर सुँघनी के बल ही से हमारी पण्डिताई झलक रही है' तथा 'प्रधान प्रधान रानियाँ हमारे हाथ की करछली थीं'; 'चौबे से छब्बे होने गये, पास का दो गँवाय दुबे ही रहे, सौलह सौ के हजार हुये" आदि उनकी भाषा के थोड़े से उदाहरण हैं।

विधान की दृष्टि से भट्ट जी ने कोई नवीन वस्तु नहीं दी। उनकी नाटक कला सीधी-साधी है। उपदेशप्रद और भावात्मक वाक्यों का उनके संवादों में पूर्ण प्रयोग है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-विकास की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। भारतेन्दु जिस परम्परा को चला गए थे उसी को उन्होंने भी स्थिर रखा।

लाला श्रीनिवासदास (१८५१-१८९७)

लाला श्रीनिवासदास धनसंपन्न व्यक्ति थे और साहित्य-रचना केवल उनकी साहित्यिक रुचि का परिणाम था। उन्होंने *प्रह्लाद-चरित*, *रणधीर-प्रेममोहिनी* (१८७७), *तप्ता-संवरण* (१८८३) और *संयोगिता-स्वयंवर* (१८८५) चार नाटक लिखे।

प्रह्लाद-चरित बड़ा ही असफल नाटक है। उसकी कथा-वस्तु प्रसिद्ध प्रह्लाद आख्यान पर स्थित होते हुए भी बड़ी शिथिलता और अकुशलता से विकसित हुई है। *तप्ता-संवरण* की भी यही दशा है। इसमें सूर्य-पुत्री तप्ता और संवरण के प्रेम-विवाह की कथा है। कथा-विकास में कालिदास के शकुन्तला की पत्र-लेखन और दुर्वासा-शाप वाली दोनों युक्तियों का समुचित उपयोग किया गया है। यद्यपि प्रह्लाद-चरित की अपेक्षा यह नाटक अधिक अच्छा है परन्तु कलात्मक दृष्टि

से शिथिल है। *संयोगिता-स्वयंवर* को भी सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का विकृत रूप मिलता है। जयचंद के द्वेष की चरमसीमा का कारण उपयुक्त रूप से विकसित नहीं हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप कथा की गति में अनेक शंकायें उत्पन्न होती हैं। छद्मवेष में चंद बरदाई के साथ पृथ्वीराज का जयचंद की सभा में जाना और अंत में 'कर्नाटकी' नामक स्त्री द्वारा उसका पहचान लिया जाना—ऐसी घटनायें हैं जो बुद्धि और तर्क को स्वीकृत नहीं होती।

रणधीर-प्रेममोहिनी लालाजी की एक सफल और सुन्दर रचना है। अपने पिता से रुष्ट और सूरत में आकर बसे हुए पाटन के राजकुमार रणधीरसिंह एवं सूरत की राजकुमारी प्रेम-मोहिनी के परस्पर प्रेम को लेकर इसकी रचना की गई है। राजकुमारी के स्वयंवर में रणधीर का अपमान होता है फिर भी वह आखेट के समय राजकुमारी के भाई रिपुदमनसिंह की सिंह के आक्रमण से रक्षा करता है जिसके कारण दोनों में बड़ा स्नेह हो जाता है। रणधीर के कुछ चाटुकार और स्वार्थी नौकर उसे वेश्यागामी और मदिरा-मस्त बनाने का उद्योग करते हैं पर अपने स्वामी-भक्त नौकर जीवन के कारण वह सर्वनाश से बच जाता है। उधर सूरत-नरेश रणधीर से क्रुद्ध हो जाते हैं और स्वयंवर में आये हुए राजा लोग उनके संकेत से रणधीर के महल पर धावा कर देते हैं। अपने मित्र की रक्षा में रिपुदमन की मृत्यु हो जाती है। रणधीर भी शत्रुओं का अंत कर घायल अवस्था में प्रेममोहिनी के पास जाता है और उसी की गोद में प्राण छोड़ता है। यह देखकर प्रेममोहिनी भी अपना शरीर छोड़ देती है। अन्त में सूरत और पाटन के नरेशों के परस्पर वार्तालाप से सारा रहस्य खुलता है और सब दुख प्रकट करते हैं।

प्रस्तुत नाटक हिन्दी का पहला वास्तविक दुखान्त नाटक है।

लाला जी ने अपने अन्य नाटकों में प्राचीन प्रस्तावना वाली परम्परा का ही अनुकरण किया है, परन्तु इसमें नाटक का आरम्भ सूरत के राजमहल में प्रेममोहिनी और उसकी सखी चम्पा एवं मालती के वार्तालाप से हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने नायक और नायिका के चरित्र-चित्रण के लिए अनेक स्थानों पर अनावश्यक 'स्वगत' का आश्रय लिया है परन्तु इतिहास की दृष्टि से हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस नाटक की रचना नाटक-साहित्य के आरंभ ही में हुई थी।

लाला जी दुखान्त नाटक के प्रथम लेखक थे। भारतेन्दु का *नीलदेवी* इनके नाटक की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

राधाचरण गोस्वामी (१८५८-१९२५)

राधाचरण गोस्वामी जी की सात नाटकीय रचनाओं का उल्लेख मिलता है। *सती चन्द्रावली* (१८९०); *अमरसिंह राठौर* (१८९४); *श्रीदामा* (१९०४) नाटक गिने जाते हैं; *बूढ़े मुँह मुँहासे* (१८८७); *तन मन धन गुसाईं जी के अर्पन* (१८९०) और *भंग-तरंग* (१८९२) तीन प्रहसन हैं तथा *सरोजिनी* अनुवाद है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने *यमलोक की यात्रा* को भी नाटक माना है[1] जो ठीक नहीं है। वास्तव में यह उनका एक गद्य लेख है जिसमें स्वप्न रूप में देखे हुए यमलोक की दशा का वर्णन किया गया है। यह लेख हास्य-प्रधान है और गोस्वामी जी के सुधार सम्बन्धी विचारों का साहित्यिक प्रदर्शन है। इसका दूसरा नाम *'नये नासकेत'* भी है। सन् १८८८ में इसका द्वितीय संस्करण आनन्द कादम्बिनी यन्त्रालय मिर्ज़ापुर से हुआ था। नाटक निर्माण के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का मत यह था—

---

१. हिन्दी पुस्तक साहित्य, पृ० ५७४।

"भारत में जब प्रकृत स्वाधीनता और वीरता का प्राण-वियोग हुए सैकड़ों वर्ष हो गए तब पुस्तक पत्रों के द्वारा ही हम स्वाधीनता, वीरता के लिए अश्रु विसर्जन करके कृतार्थ होंगे।" †

सती चन्द्रावली—एक छोटी सी नाटिका है जिसमें सात दृश्य हैं। "इस में पातिव्रत्य का आदर्श, धर्म की दृढ़ता, देश की भक्ति, समाज की शुभ-चिन्तकता उत्तम अनुकरण से दिखलाई है।" अपनी भूमिका में लेखक ने इसकी रचना के कारण और परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा है—

"एक दिन श्रावण की सघन घनाच्छादित घोर तमस्तोमवृत रात्रि में ब्रजनागरीगण प्रावृट-ऋतु के परिचारक, श्रावण के शृङ्गार, परम उदार मनोहर गीत गा कर अर्द्ध सुप्त जगत के कर्ण-कुहरों में सरस रसधारा बरसा रही थीं। इतने में ही मेरी प्राणाधिक प्रियतमा ने कहा कि श्रावण के गीतों में बहुधा उपदेशपूर्ण गीत भी हैं जैसा कि चन्दना, रानी गेंद और चन्द्रावली आदि। तब मैंने उनसे वे गीत सुने और उनमें चन्द्रावली का गीत और इतिहास मुझे बहुत ही आदर्श और उन्नत जान पड़ा। बस यह नाटिका मैंने उसी सूत्र पर बनाई है।"

"इस नाटिका के रोचक और अभिनय के चमत्कारक होने के लिए प्रसिद्ध गीत से अधिक कई दृश्य रक्खे गए हैं और हिन्दू मुसलमानों के विरोध विशेष पर्व के व्याघात और घटना के गंभीर होने के लिए दिल्ली रङ्ग-क्षेत्र, औरंगज़ेब बादशाह और हरियाली तीज तथा ईद का दिन रखा गया है।"

नाटिका में मुसलमानों की हिन्दू-ललनाओं के प्रति विलास-भावना और इस्लाम की उन्नति का विचार बिलकुल स्पष्ट है। अशरफ खाँ ज़बरदस्ती पानी भरने गई हुई चन्द्रावली को अपने खेमें में भेज देता है और उससे निकाह करना चाहता है। वह हिन्दू-रमणी बड़े साहस

† अमरसिंह राठौर—भूमिका

के साथ उसका विरोध करती है। जब हिन्दू रईस इस खबर को औरंगज़ेब के पास ले जाकर न्याय की दुहाई करते हैं तो वह भी कहता है—

"क्या हर्ज है? अगर एक काफ़िर की लड़की दीन इसलाम क़बूल कर ले। उसको नजात होगी।"

अशरफ़खाँ और चन्द्रावली में बड़ी कटी जली बातें होती हैं। वह तम्बू के बाँस में दुपट्टे से फाँसी लगाने का प्रयत्न करती है परन्तु उसके दुर्भाग्य से बाँस टूट जाता है और पहरेदार को सब पता चल जाता है। दूसरी ओर हिन्दू हड़ताल कर देते हैं। न बादशाह के आदमियों को नाज मिलता है न घोड़ों को दाना। महल में तन्दूर भी नहीं चढ़ पाता, ईद का दिन वैसे ठहरा। मुसलमान रैयत तब परेशान हो जाती है। हिन्दुओं का गुस्सा चोटी तक पहुँच जाता है। राजपूत राजा नरेंद्रसिंह की अध्यक्षता में, वे सब दीवान खास को जाकर घेर लेते हैं। बादशाह भी अपनी ज़िद पकड़ते हैं। 'कत्ले आम' का हुक्म होता है परन्तु हिन्दू भी कम पानीवाले नहीं। अशरफ़खाँ का मकान लूट लेते हैं। सारे स्थान गुल और शोर से भर जाते हैं और सब के सौभाग्य की रक्षा के लिए चन्द्रावली अपने बिछौने के फूँस में आग लगा कर उसी में भस्म हो जाती है।

नाटिका का अन्त दुखमय होता है।

अमरसिंह राठौड़—यह ऐतिहासिक नाटक है और वीरवर अमरसिंह के चरित्र को लेकर लिखा गया है। लेखक को दुःख है कि क्षत्रियों का युगयुगान्तर का बल-दर्प समय ने निर्मूल कर दिया। क्षत्रिय राजा महाराजा शतरंज के मुहरे के समान अपनी चाल चल रहे हैं; और मणिहीन सर्प, पक्षहीन गरुड़, दंष्ट्रा-विहीन सिंह के समान वीर राजपूत-गण दैव को कोस रहे हैं। अस्तु "हरेरिच्छा बलीयसी।" उसे आशा है चाहे और जो कुछ हो "परन्तु वीर पुंगव अमरसिंह के नाम से एक बार उनके दरबार में अवश्य प्रवेश करेगा।"

दिल्लीपति शाहजहाँ के कहने से जोधपुर के महाराज गजसिंह अपने पुत्र अमरसिंह को देश से निर्वासित कर देते हैं। अमरसिंह चुपचाप पिता की आज्ञा मान कर अपनी तलवार पर भरोसा रख कर वहाँ से चले जाते हैं। शंकरानंद और योगानंद नाम के दो व्यक्तियों के साथ मिल कर भारत के राजपूत राजाओं को एकत्रित और संगठित होने के लिए उनके पास पत्र भेजते हैं। सहायता का वचन भी मिल जाता है। इसी बीच उनकी शाहजहाँ से भेंट होती है और वीर राठौड़ को अपने कब्ज़े में करने के लिए बादशाह उन्हें नागौर की जागीर दे देते हैं। कुछ दिनों तक यह जागीर का काम चलता है। राजपूत की वीरता और उसकी लोक-प्रियता दिल्ली के सिंहासन को सदैव भयभीत करती रहती है। अमरसिंह भी दिल्लीपति की ओर उदासीनता का भाव रख कर शिकार को चले जाते हैं और उसी में ५, ६ महीने लग जाते हैं। मुग़ल-सरदारों को अवसर मिल जाता है। वे बादशाह को भड़काते हैं। हुक्म होता है कि अमरसिंह पर दर्बार में इतने दिन तक गैर हाज़िर होने का कारण पाँच हजार का जुर्माना किया जाय और सलावतखाँ को एक छोटे से फौजी दस्ते के साथ नागौर भेज कर उसे वसूल किया जाय। राठौर सरदार जुर्माना देने से मना करता है। सलावतखाँ से कहा-सुनी होती है। अन्त में यह निश्चय होता है कि सब फैसला मुगल-दरबार में हो। दोनों दिल्ली पहुँचते हैं। दिल्ली जाने से पहले अमरसिंह अपनी प्रियतमा सूर्यकुमारी से विदा लेता है क्योंकि उसके मन में मुसलमान सम्राट् से हिन्दुत्व का बदला लेने की बड़ी इच्छा है और इसकी पूर्ति में वह जानता है संभव है प्राण भी गँवाने पड़ें तो आश्चर्य नहीं।

मुगल दरबार में बादशाह अमरसिंह को दोषी ठहराता है। अमरसिंह बिगड़ता है। सलावतखाँ से फिर टेढ़ी-सीधी होती है और अन्त में अमरसिंह अपनी कटार से वहीं उसे मृत्यु के घाट उतार देता है

और नंगी तलवार लेकर बादशाह पर झपटता है। शाहजहाँ भाग कर अपनी जान बचाता है। वीर राजपूत अकेला तलवार लेकर गर्जन करता है। इसी बीच मुगल सेना आ पहुँचती है और उसे चारों ओर से घेर लेती है। परिस्थिति को समझकर अमरसिंह अर्जुनसिंह से उसे मार डालने के लिए कहता है जिससे कोई यह न कह सके कि मुगलों द्वारा अमरसिंह की मृत्यु हुई। यहीं राजपूत का अन्त है।

बाद को मुगलसेना और राजपूत सेना में भी खूब लड़ाई होती है। रानी सूर्यकुमारी भी अपनी बाँदियों के साथ घोड़े पर चढ़ कर आती है और बीच युद्ध से अपने पति के शव को उठा कर ले जाती है। किसी की हिम्मत नहीं होती, उस क्षत्राणी को रोक सके। श्मशान में अमरसिंह का शव रखा जाता है और वहीं चिता में भस्म होकर सूर्यकुमारी सती हो जाती है। यही नाटक का अन्त है।

श्रीदामा—यह बहुत ही छोटा सा ५ दृश्य का नाटक है जिसमें सुदामा-दारिद्र्य-मोचन की कथा है।

नाट्य-विधान और कलात्मकता—गोस्वामीजी ने कोई पूर्ण नाटक नहीं लिखा। सब छोटे छोटे रूपक हैं जिन्हें एकांकी नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा। *सती चंद्रावली* में उन्होंने मंगलाचरण में देवांगनाओं को रखा है और *अमरसिंह* में दो वैतालिकों के गान से नाटक का आरम्भ किया है। आरंभ में ही 'दैवी' और 'मानवी' व्यक्तियों का प्रवेश प्राचीन नांदी परम्परा का नूतन विकास है। दोनों नाटकों के मंगलाचरण कथा-वस्तु के बिलकुल उपयुक्त हैं। एक में भारत की सतियों का गुण-गान है और दूसरे में भारत का जयगीत। अन्त भी किसी प्रकार के भरत-वाक्य पर नहीं होता वरन जैसे ही कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है, नाटक की भी समाप्ति हो जाती है।

तीनों नाटकों में अंकों या गर्भांकों का रूप लेखक ने नहीं रखा।

केवल दृश्यों (जो गर्भांक के स्थान पर प्रयोग में आया है) में ही अपनी कथा-वस्तु को सजा दिया है। प्रवेश, प्रस्थान, 'स्वगत' तथा 'प्रकट' आदि सब का निर्देश इन नाटकों में है। *सती चन्द्रावली* में तो 'दृश्य' के रूप रंग और पात्रों की वेश-भूषा आदि पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है। यह वास्तव में भारतेन्दु के *भारत-दुर्दशा* का अनुकरण प्रतीत होता है।

सती चन्द्रावली की अपेक्षा *अमरसिंह राठौर* के संवाद अधिक बलशाली हैं। *अमरसिंह* के कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) [अमरसिंह और बलभद्रसिंह आपस में राजपथ में बातें करते हैं]

बलभद्रसिंह—मैं तो यह समझता हूँ कि यदि आप अड़ जाते तो आप को कोई मारवाड़ के सिंहासन से हटाने वाला नहीं था। परन्तु आपने पिता की आज्ञा मान करके बहुत यश लिया और क्यों न हो? धर्मवीर राजपूतों का वंश है।

अमरसिंह—पिता पुत्र का विरोध हमारे परम धार्मिक राजकुल में बहुत कम सुना होगा। यह मुगलों ही के कुल का भूषण है कि पिता-पुत्र, भाई-भाई सलतनत के लिए कट मरें।

❀ ❀ ❀

(२) [सलावतखाँ और अमरसिंह]

सलावतखाँ—आप सर्दारों में हैं इससे ज़िद न कीजिये। जुर्माना दे दीजिये।

अमरसिंह—यहाँ दण्ड देना तो पढ़े ही नहीं। लेना जानते हैं। वैसे तो दे देता मगर दुश्मनों को नहीं दूँगा क्योंकि वह शेखी करेंगे कि अमरसिंह से हमने जुर्माना वसूल किया।

गोस्वामीजी के नाटकों में कई दोष भी हैं विशेषकर कार्य-व्यापार सम्बन्धी दृश्यों की शिथिलता में। इनके दृश्य बड़ी शीघ्र

से परिवर्तित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल कथा का आगे बढ़ाना उन्हें अभीष्ट है परन्तु चरित्र के चित्रण पर उनका ध्यान नहीं जाता। यही कारण है उनके पात्र अधखिले रह जाते हैं और नाटक या तो केवल कथा कहानी मात्र दिखाई देते हैं और या वार्तालाप के रूप में कोई उपदेशप्रद आख्यान।

राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७)

यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की बुआ गंगा बीबी के पुत्र थे और इस प्रकार उनके फुफेरे भाई लगते थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें कविता, जीवन-चरित्र और नाटक तथा आलोचनात्मक लेख आदि सभी हैं।

दुखिनी बाला—यह राधाकृष्ण दास का पहला एकांकी नाटक है। इसका प्रथम संस्करण सन् १८८० में छपा था और दूसरा परिष्कृत रूप में सन् १८८२ में। पहली और दूसरी आवृत्ति में अन्तर है। प्रथम में नाटक की नायिका श्यामा विधवा होने पर अपनी सहेली के कहने से पर-पुरुष से सम्बन्ध स्वीकार कर लेती है और अन्त में गर्भपात होना दिखाया जाता है। परन्तु दूसरे संस्करण में श्यामा का नाम सरला हो जाता है और वह अपनी सहेली के पर-पुरुष सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार न कर विष खाकर अपना प्राण दे देती है। अन्य सब विषय एक से ही हैं। ब्राह्मणों और परम्परा के अन्धानुयायियों के कारण समाज में जो कुरीतियाँ फैली हुई थीं उन्हीं के विरोध में उठने वाली ध्वनि का वह नाटकीय प्रदर्शन है। यद्यपि लेखक ने विधवा-विवाह के पक्ष में और अनमेल-विवाह तथा बाल-विवाह के विरोध में पर्याप्त तर्क उपस्थित किए हैं परन्तु अपने वार्तालाप और कथा-वस्तु के विकास में वह जीवन डालने में समर्थ नहीं हो सका। सम्भवतः इसका कारण उसकी साहित्यिक शक्ति के विकास की न्यूनता है।

इस नाटक में छोटे छोटे ६ दृश्य हैं।

महारानी पद्मावती—इनका दूसरा नाटक है जिसकी रचना सन् १८८२ में हुई। यह सबसे पहले *'साहित्य सुधानिधि'* पत्र में छपा और पीछे से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें चित्तौड़ की रानी पद्मावती, अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण, राजा रतनसिंह का बन्दी बनना, गोरा बादल की सहायता से राणा का उद्धार और अन्त में पद्मावती का अन्य राजपूतनियों के साथ अग्निमय गुफा में प्रवेश आदि घटनायें वर्णित हैं। अपनी घटनाओं की ऐतिहासिकता के लिए लेखक ने आरंभ में एक विस्तृत भूमिका भी दे दी है।

नाटक का आरम्भ व्यर्थ की प्रस्तावना से होता है और तत्पश्चात् नाटक के प्रथम अङ्क का परदा खुलता है। लेखक ने इस नाटक को ६ अङ्कों में विभाजित किया है। प्रथम अङ्क में केवल तीन दृश्य हैं जिनमें क्रमशः चित्तौड़ के राजा रतनसिंह, दिल्लीपति अलाउद्दीन का निजी बर्ताव, उनकी विचार-धारा, उनकी राजनीति और व्यक्तिगत गर्व तथा इन सब का साधारण हिन्दू नागरिकों पर प्रभाव दिखाया गया है। दूसरे अङ्क में भी तीन ही दृश्य हैं। पहले में अलाउद्दीन की इस प्रार्थना पर कि वह चित्तौड़ आकर महाराणा से मिलना चाहता है, विचार होता है। रतनसेन, महाराणी पद्मावती, मंत्री और कुमार अजयसिंह उसमें उपस्थित हैं। सब पुरुषों के साथ में पद्मावती की उपस्थिति केवल लेखक की प्रगतिशील प्रकृति की द्योतक है। अलाउद्दीन की प्रार्थना स्वीकार की जाती है। दूसरे दृश्य में पद्मावती भावी आशंका से भयभीत दिखाई देती है। यद्यपि महाराणा उसे अनेक प्रकार से प्रबोध करते हैं परन्तु उसे आन्तरिक शान्ति नहीं। तीसरे दृश्य में चित्तौड़ के राजपथ में लोग सब घटनाओं की चर्चा और उन पर अपनी टीका टिप्पणी करते हैं और यवनराज से लड़ने के लिए तैयारी भी।

तीसरे अङ्क के पहले दृश्य में अलाउद्दीन अपनी प्रार्थना-स्वीकृति पर अपनी बुद्धिमत्ता का गर्व करता है और अपनी सारी योजना वज़ीर को कह कर हुक्म की पाबन्दी की आज्ञा देता है। दूसरे दृश्य में महाराणा रतनसेन बन्दी दिखाये गए हैं। अलाउद्दीन उनसे पद्मावती को देकर मुसलमान बन जाने के लिए कहता है और अपनी बुद्धिमत्ता की डींग मारता है। असमर्थ राणा प्रलाप करते हुए मूर्छित हो जाते हैं। तीसरे दृश्य में शोकमग्न रतनसेन को नैपथ्य में से एक गीत द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया जाता है और मरने को तैयार होने वाला वीर राजपूत बदला लेने पर कटिबद्ध हो जाता है। यहाँ लेखक ने यह स्पष्ट नहीं होने दिया कि यह शब्द किसके हैं और कारागार तक कैसे पहुँचे हैं।

चौथे अङ्क के पहले दृश्य में दो पुरुष छद्मवेश में महाराणा का समाचार लाते हैं और उन्हीं के द्वारा अलाउद्दीन की सारी नीयत का भी पता चलता है। ये काम बड़े स्वाभाविक और सुन्दर ढङ्ग से लेखक ने कराये हैं। दूसरे दृश्य में राजपूतों और उनके बालकों तक में महाराणा के शत्रु से बदला लेने का भाव प्रदर्शित किया गया है। तीसरे दृश्य में मंत्री और महाराणी आदि राणा को छुटाने की मंत्रणा करते हैं और प्रसिद्ध चिट्ठी लिखी जाती है। पाँचवें अङ्क के पहले दृश्य में अलाउद्दीन की असीम प्रसन्नता दिखाई गई है और दूसरे में पद्मावती तथा रतनसेन की कारागार में भेंट और अपनी सेना द्वारा अलाउद्दीन को छोड़ कर वहाँ से तत्काल प्रस्थान। तीसरे दृश्य में वही अलाउद्दीन की निराशा और राणा के प्रति दूसरे युद्ध की तैयारी है। छठे अङ्क का पहला दृश्य पद्मावती और राणा का चित्तौड़ में वार्तालाप है और सारी योजना की सफलता एवं उसमें काम आने वाले वीरों की चर्चा है; दूसरे में बादल द्वारा गोरा की मृत्यु का समाचार सुनकर उसकी स्त्री के सती होने की सूचना। तीसरे दृश्य में सब राजपूत अलाउद्दीन की

आई हुई फौज से मोर्चा लेने निकल पड़ते हैं और चौथे में महाराणी पद्मावती जौहर के लिए अग्निमय गुफा में प्रवेश कर जाती है।

इस नाटक में यथास्थान यवनों द्वारा अत्याचार एवं भारत की दुर्दशा का वर्णन है। एक स्थान पर तो लेखक ने भारतेन्दु का प्रसिद्ध गीत 'रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई' रख दिया है।

धर्मालाप—बाबू साहब का तीसरा नाटक है। इसकी रचना सन् १८८५ में हुई थी। वास्तव में यह नाटक नहीं है, वार्तालाप है, जिसमें भिन्न भिन्न मतवाले—सनातनी, वेदान्ती, वैरागी, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, दयानन्दी, ब्राह्मो, थियोसोफिस्ट आदि—वार्तालाप में संलग्न हैं। नाटकीय दृष्टि से इसमें कोई विशेषता नहीं।

महाराणा प्रतापसिंह—कृष्णदास जी का चौथा और अन्तिम नाटक है। इसकी रचना १८९७ में हुई थी। इसमें उदयपुर के महाराणा प्रतापसिंह की वीरता और धीरता तथा बादशाह अकबर की कुटिल राजनीति का वर्णन है। नाटक में दो कथानक समान रूप से चलते हैं। एक ऐतिहासिक है और दूसरा लेखक द्वारा कल्पित। कल्पित कथा यद्यपि ऐतिहासिक वृत्त से स्वतंत्र है परन्तु अपने विकास के लिए उसे मूल ऐतिहासिक उपाख्यान का सहारा लेना पड़ता है। उसकी अवस्था ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए एक बालक अपनी माँ की अँगुली पकड़ लेता है।

ऐतिहासिक कथा का विकास बहुत धीरे-धीरे और रुक-रुक कर होता है। एक पंखुड़ी खिलती है परन्तु दूसरी के खिलने में समय लगता है। कारण कदाचित् यही है कि लेखक ने मूल वृत्त में स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसङ्ग रख दिए हैं जिनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रथम अङ्क में यदि दरबार (महाराणा) उदयपुर के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं तो दूसरे अङ्क में लगे हुए मीना बाज़ार में "बी जौहरिन ने तो अपने याकूत लब, गौहर दन्दाँ की आब के आगे सब को मात कर रखा है।" थोड़ा आगे

चलकर मालूम होता है कि पृथ्वीराज की रानी के पातिव्रत कौशल ने अकबर की 'इलाही तौबा' मचा रखी है। ये विषयान्तर मनोरञ्जक अवश्य हैं पर कथानक को समान रूप से आगे बढ़ाने में सहायक नहीं होते।

ऐतिहासिक कथानक का वास्तविक विकास होता है तीसरे अंक में—जहाँ प्रताप मानसिंह का अपमान करते हैं। परन्तु इसी अंक के एक छोटे से दृश्य में एक सुकुमार बालिका भी दिखाई देती है। वह फूल तोड़ रही है और बड़े प्रेम से गा रही है—

'अरे तेरे कोमल तन पर वारियाँ।'

गुलाब और मालती की यह प्रेम-कथा बड़ी मनोहरता के साथ दो दृश्यों तक आगे को बढ़ती है। ऐतिहासिक कथा का वेग इस काल के लिए कुछ रुक जाता है। केवल अकबर-तानसेन की बातचीत, व्रज-वासिन के गीत, हिन्दू-मुसलमान का वार्तालाप प्रेम-चित्र को भुलाने में समर्थ होते हैं और इसीलिए ये दृश्य कथावस्तु में सहायक न होकर उसे एक ओर धकेलते हुए से नज़र आते हैं। चौथे अंक के तीसरे गर्भांक में जाकर यह याद आता है कि मानसिंह का अपमान हुआ था। यह सूचना मिलते ही अकबर तत्काल मोहब्बत खाँ को उदयपुर पर चढ़ाई करने की आज्ञा देते हैं। अब कथानक थोड़ा और आगे बढ़ता है। दूसरे दृश्य में ये सारी खबरें गुलाबसिंह के द्वारा पृथ्वीराज प्रताप के पास भेज देते हैं। कथानक फिर अड़ियल टट्टू की तरह रुक जाता है। मुसलमानों की गोष्ठी बरसाती मेंढकों के समान सुनाई देती है। हाँ, दूसरी ओर मालती की करुण ध्वनि को सुनकर जैसे कथानक भी उसकी अमृतमयी धारा का पान करने के लिए खड़ा हो गया जान पड़ता है।

पाँचवें अंक के दूसरे गर्भांक से फिर कथानक में एक बाढ़ आती है। वह दौड़ता है अपनी पूर्व गति की शिथिलता वाली लज्जा मिटाने के लिए। एक ओर महाराणा को अकबर की चढ़ाई का समाचार मिलता

हैं और दूसरी ओर मानसिंह, सलीम और मोहब्बतखाँ चढ़ाई करने का विचार कर रहे हैं। वास्तविक युद्ध घटना से पहले महाराणा और महाराणी के परस्पर परामर्श और गुलबसिंह तथा मालती के प्रेम की हलकी सी झलक मिलती है। इस स्थान पर प्रतीत होता है जैसे दोनों कथानक एक दूसरे से आकर मिल गये हों। छठे गर्भांक में युद्ध के बाद प्रताप अपनी जीवन-रक्षा करते हैं और पहली बार हम भाई भाई को आमने सामने खड़ा हुआ पाते हैं। यहाँ प्रताप चेतक की मृत्यु पर विलाप करते हैं और 'सक्ता जी' उन्हें समझाते हैं। घर से निकल खड़े होने के बाद अपने भाई से सक्ता जी का यही पहला और अन्तिम मिलन है।

छठे अङ्क में कथानक की गति और अधिक तीव्र हो जाती है। 'सूच्य' का सहारा लेकर लेखक ने सलीम द्वारा अकबर और पृथ्वी-राज के सामने युद्ध की मानो तस्वीर खींच दी है। राजपूत-वीरता का यह चित्र ऐसा विशद और पूर्ण है कि अकबर के साथ हम भी कह उठते हैं 'वाहरे बहादुराना राजपूताने! वाह!!' युद्ध के पश्चात् महाराणा पहाड़ी गुफाओं में दिखाई देते हैं। वहाँ भी वही राजपूती रक्त का जोश है। भोजन कर रहे हैं कि मुसलमानों की चढ़ाई का समाचार मिलता है। भोजन छोड़ कर युद्ध की तैयारियाँ होने लगती हैं। इसके बाद ही एक बार फिर मालती का प्रेम आँखों के सामने आ जाता है। तत्पश्चात् राजकुमार और भील बालकों के साथ राजपूती जोश नज़र आता है, फिर मुसलमानों की गोष्ठी और तदनन्तर संन्या-सिनी के वेश में घूम-घूम कर युद्धक्षेत्र में गुलाबसिंह के शव को ढूँढती हुई मालती दिखाई पड़ती है। राजपूती प्रेम-पुष्प बिना खिले हुए ही मुर्झाता दिखाई देता है। नाटक का वीर भाव करुण में परिणत हो जाता है। सातवें अङ्क में भी पृथ्वीराज की मृत्यु, भीलों की स्वामि-भक्ति, राणा की दिनचर्या और महाराणी का नैराश्यपूर्ण करुण जीवन,

'हिन्द के बादशाह होने की सनद' पाकर अकबर की प्रसन्नता, राणा का मेवाड़-त्याग आदि अनेक करुण प्रसंग बड़े सुन्दर हैं। परन्तु भामाशाह की स्वामिभक्ति और अपने संचित धन को महाराणा के पैरों पर रख देना एक बार फिर नाटक की मुखाकृति को वीरता के भाव में परिवर्तित कर देता है। फिर सेना संगठित की जाती है और शत्रु से लोहा लेने का परामर्श होता है। उधर दिल्ली में अकबर से बातचीत करते हुए खानखाना कहते हैं—'मगर खुदावन्द! मेरी तो अब यही इल्तिजा है कि ऐसे शख्स को अब ज्यादा तकलीफ न दी जाय।' उनके ऐसा कहते ही महाराणा की जय का शब्द सुनाई देता है। बादशाह सोच में पड़ते हैं। बस अज़ान की आवाज़ सुनाई देता है और यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता है। वास्तव में लेखक ने बड़े कौशल से अपने नायक और प्रतिनायक के चरित्र को सँभाला है।

अन्तिम दृश्य में प्रतापसिंह राज-दरबार करते हैं। राजकुमार को उपदेश देते हैं। गुलाब और मालती के विषय में वह केवल इतना कहते हैं—

'मंत्री, मेरी ओर से मालती के विवाह की तैयारी की जाय मैं इन दोनों का विवाह अपने हाथ से करूँगा।'

तत्पश्चात् राणा अपने कुँवर का हाथ अपने सरदारों के हाथ में देकर उसकी रक्षा का भार उन पर छोड़ते हैं। गाने के साथ-साथ ड्राप गिरता है।

सती प्रताप—वैसे तो यह नाटक भारतेन्दु ने आरम्भ किया था परन्तु वह इसका कुछ अंश ही लिख सके। बाकी राधाकृष्णदास जी ने पूरा किया। यह निश्चय होना कठिन है कि इसमें दोनों विद्वानों में से किसका कितना अंश है अतएव इसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है।

नाट्यविधान और कला—बाबू जी के रूपकों को देखने से उनकी

नाट्य-कला में एक क्रमिक विकास दिखाई देता है। *दुखिनी बाला* में जो प्रथम प्रयास की भूलें हैं उनका बहुत कुछ अभाव *पद्मावती* में प्रस्तुत है और *पद्मावती* के कथा-वस्तु, विकास एवं चरित्र-चित्रण में जो शिथिलता है वह *महाराणा प्रताप* में दूर हो गई है। यद्यपि इनके दोनों नाटकों में प्रस्तावनायें हैं परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उनकी उपस्थिति का कारण उनके समय की परम्परा है। अन्यथा ये प्रस्तावनायें निरर्थक सी ही हैं। यह देखकर अवश्य कहा जा सकता है कि बाबू साहब का साहस संस्कृत-परम्परा को तोड़ डालने का नहीं हुआ। परन्तु अन्य नाटकीय तत्त्वों में उन्होंने बिलकुल वर्तमान प्रणाली को अपनाया है। यदि किसी को यह न बताया जाय कि *महाराणा प्रताप* सन् १८२७ की रचना है तो वह यही समझेगा कि यह नाटक १९३५ के बाद ही लिखा गया है।

महाराणा प्रताप की कथावस्तु की समीक्षा ऊपर हो चुकी है। चरित्र-चित्रण के तत्त्व का निर्वाह भी बाबू जी ने भली प्रकार किया है। उनके दोनों नाटक व्यक्ति-प्रधान हैं अतएव घटनायें स्वतंत्र रूप से प्रस्फुटित न होकर व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण उत्पन्न होती हैं परन्तु उनमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है। वास्तव में घटनायें ही चरित्रों का अनुभव कराती हैं। जिस प्रकार समुद्र का जल बादल बनकर फिर वर्षा के रूप में समुद्र में गिर जाता है उसी प्रकार घटनायें भी व्यक्तिगत विचारों से उत्पन्न होकर, उनका अस्तित्व दिखाकर फिर उन्हीं में लीन हो जाती हैं।

बाबू जी के ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र बहुत अच्छा है, स्पष्ट है और स्वाभाविक है। प्रताप और अकबर को हम वैसा ही पाते हैं जैसा सदा से सुनते चले आये हैं। प्रताप स्वतंत्रता-प्रिय धीर, वीर, क्षमाशील, उत्साही और दृढ़-प्रतिज्ञ राजपूत हैं; रानी एक आदर्श राजपूत रमणी हैं; अकबर विलास-प्रिय है परन्तु समझदार भी है

और गुणी का आदर करना जानता है। अन्य पात्रों में आवश्यकतानुकूल गुण दोष हैं।

कला का दृष्टि से भी इसमें कुछ और खटकने वाली बातें हैं। नाटक का आरंभ उदयपुर के दृश्य से होता है। राजदरबार लगा हुआ है, महाराणा प्रताप, मंत्री तथा अन्य सरदार उपस्थित हैं। 'नेपथ्य में' गाने का स्वर सुनाई देता है। इसमें दो बातें बड़ी विचित्र हैं—एक तो नेपथ्य-गान। मंच पर आकर पात्रों का शान्त रूप से बैठा रहना अच्छा नहीं लगता। जब तक नेपथ्य का गान समाप्त न हो जावे तब तक मौन-धारण बड़ा अस्वाभाविक है। दूसरी बात कविराज जी कृत प्रताप के पूर्वपुरुषों की कीर्ति का छंदोबद्ध वर्णन है जो आवश्यकता से अधिक बड़ा है। नाटक देखने वालों के लिए इतनी लंबी कविता सदैव अरोचक होती है। कहीं कहीं प्रताप और अकबर के कथन भी डेढ़ और दो पृष्ठों तक चले गए हैं।

समय और गति का समन्वय भी कहीं कहीं त्रुटिपूर्ण है। चौथे अंक के तीसरे गर्भांक में पृथ्वीराज को अकबर के दरबार में दिखाया गया है और चौथे ही गर्भांक में वह अपने घर पर गुलाबसिंह से बातें करते हैं। क्या पृथ्वीराज अपनी राज-दरबार वाली पोशाक पहने ही घर पर बैठे होंगे? क्योंकि इतनी शीघ्रता में उन्हें वेश-परिवर्तन का समय ही कब मिला!

भाषा साधारणतया अच्छी है। मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं परन्तु उनकी भाषा बड़ी कठिन (सक़ील) हो गई है। 'तरद्दुदात', 'किरदार', 'दाद गुस्तरी' आदि शब्द साधारण समझ से बाहर की चीज़ हैं। इनके अतिरिक्त इन वाक्यों को भी देखना चाहिए कितने दुरूह है।

१. "मेरे ख़याल में औरतों का रक़ीक़ दिल तमः के फंदे से फाँसना आसान था।"

२. "मेरा तो दारोमदार आप ही जैसे रुकवने-सलतनत पर है। आप लोगों को तशफ्फ़ी दें। मैं आकर अभी इंतज़ाम करता हूँ।"

चेतक के मरने पर जिस भाषा द्वारा प्रताप अपने हृदय के अभाव को प्रकट करते हैं, वह बड़ी ही शिथिल मालूम होती है। उसके अन्दर हृदय में चुभनेवाला गुण नहीं। वे शब्द केवल चेतक के गुणों का इतिहास-मात्र हैं।

फिर भी यह माना जायगा कि भारतेन्दु काल के नाटककारों में राधाकृष्णदास का प्रमुख स्थान है और और उनका *महाराणा प्रताप सिंह* नाटक अपने समय की एक उच्च कोटि की रचना है।

किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२)

इनकी तीन रचनायें देखने में आई हैं—*मयंकमंजरी* (र० का० १८९१); *नाट्य-संभव* (१९०४) और *चौपट-चपेट* (१८९१)। प्रथम दो नाटक हैं और तीसरा प्रहसन।

मयंकमंजरी—पाँच अंक का नाटक है जिसमें मयंकमंजरी और वीरेन्द्रसिंह के प्रेम की कथा है। मयंक के पिता सुमंतदेव अपनी सम्मति के अनुसार वर से पुत्री का विवाह करना चाहते हैं परन्तु मयंक वीरेन्द्र से प्रेम करती है। जब रहस्य खुलता है तो पुत्री के ऊपर अनेक प्रकार की रोक-थाम की जाती है परन्तु अन्त में प्रेमी और प्रेमिका का मिलन होता है और पिता यह कहकर "बेटा मयंकमंजरी! मैंने तुम्हारे सुकुमार शरीर में असंख्य यम-यातना सदृश क्लेश समूह पहुँचा कर पिता का नहीं केवल राक्षस का धर्म दर्साया था........." अपने पाप का प्रायश्चित्त करते हैं। इस पुराण पर्व में जावालि ऋषि भी सम्मिलित होते हैं जिसके कारण पता चलता है कि कथा बहुत पुरानी है, यद्यपि इस अंश की रक्षा लेखक द्वारा हो नहीं सकी है। अनेक स्थानों पर उसमें 'बीड़ी' और 'चुम्बन' से आधुनिक युग का समावेश

होगया है। कथा-वस्तु का कलात्मक विकास कम है और कविता की अधिकता है। पढ़ते-पढ़ते प्रतीत होता है समस्या-पूर्तियाँ पढ़ी जा रही हैं जिनका विषय और प्रतिपादन की शैली रीतिकाल के शृंगारी कवियों से किसी प्रकार कम नहीं।

चरित्र-चित्रण में लेखक अपने सुधारक रूप को बचा नहीं सका है।

"अरे पुनर्विवाह! राम राम राम!! ऐसी सत्यानाशी व्यभिचारिणियों की सी रीति तो कभी भी नहीं सुनी थी।"[१]

अथवा "हम स्त्रियों को स्वतंत्रता पूरी देना पसन्द करते हैं पर अपने घर में दमड़ी भर भी स्वतंत्रता नहीं दिया चाहते। मयंकमंजरी को स्वीकार करना होगा जो हम कहैं।[२]

मयंक की माता मनोरमा और पिता के परस्पर वार्तालाप में लेखक की समाज-सुधार-सम्बन्धी धारणायें स्पष्ट रूप में व्यंजित हुई हैं।

स्त्रियों के प्रति भी उसकी अनुदारता सीधी-साधी भाषा में व्यक्त दिखाई देती है। मनोरमा के प्रति उसके पति का बड़ा रूखा व्यवहार है। वसन्त और सुकेशी पारस्परिक सम्बन्ध-व्यंजना में भी अशिष्टता है। 'कुलटा', 'चांडालनी' और 'दुराचारिणी' शब्द तो स्त्रियों के लिए पुरुषों की जिह्वा पर रखे रहते हैं।

नाट्य-सम्भव—गोस्वामी जी का दूसरा नाटक है। 'संभव' शब्द का प्रयोग 'उत्पत्ति' के अर्थ में किया गया है अतएव विषय तो नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। 'भरत' को शुभाशीर्वाद देती हुई सरस्वती कहती है—

'बेटा! इस अपूर्व विद्या को त्रैलोक्य में प्रचलित करके तू ही इसका

---

१. अङ्क २, पृ० ४७

२. अङ्क २, पृ० ५१

आद्याचार्य होगा...![1]

तत्पश्चात् सरस्वती आदेश करती हैं :—

"......अब तू पहिले जाकर नाट्यशाला सज। फिर उसमें नाट्य-रचना, नेपथ्य की परिपाटी, दृश्य के पट और पात्रों को ठीक कर नाटकारम्भ कर।"[2]

भरत अपने साथियों—रैवतक और दमनक—के साथ पहला नाटक दिखाते हैं जिसमें अपनी प्रियतमा शची के विरह में व्याकुल इन्द्र प्रधान दर्शक हैं। नाटक के प्रधान नेता राजा बलि हैं और उसमें यही बताया गया है कि देवताओं के शिरोमणि इन्द्र की अपनी स्त्री की अनुपस्थिति में क्या दशा है? अपने मन की अवस्था के अनुकूल नाटक का अभिनय देखकर इन्द्र विस्मित भी होते हैं और आनन्दित भी। अन्त में नारद जी द्वारा इन्द्राणी इन्हें मिल जाती हैं।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने इस नाटक में प्राचीन नाटक उत्पत्ति की कथा को नाटक-बद्ध रूप दिया है।

चरित्र-चित्रण *मयङ्क-मंजरी* की तरह इसमें भी विशेष नहीं है। संगीत और कविता की ही प्रधानता है जो प्रसंग को देखते हुए नाटक में अधिक नहीं खलती।

चौपट-चपेट एक प्रसहन है; अतएव इसके विषय में उपयुक्त स्थान पर चर्चा की गई है।

नाट्य-विधान और कलात्मकता—गोस्वामी जी के दोनों नाटकों का आरम्भ प्रस्तावना से होता है और अन्त भरत-वाक्य से। *मयङ्क-मंजरी* में कथा का विभाजन केवल अङ्कों में है। प्रत्येक भाग का विकास एक ही स्थान पर होता है और गति का क्रम चलता रहता

---

१. अङ्क १, दृश्य ५, पृ० ४७

२. अङ्क १, दृश्य ५, पृ० ५१

है। यह पुरानी संस्कृत परिपाटी का अवलंबन है। परन्तु *नाट्य-सम्भव* में प्रस्तावना के पश्चात् विष्कम्भक है और अङ्क का नाम ही नहीं। कार्य-व्यापार भिन्न-भिन्न दृश्यों में दिखाया गया है। प्रथम सात दृश्य नाटक-उत्पत्ति के हैं फिर एक अङ्कावतार में एक छोटा-सा नाटक दिखाया गया है जो 'नाटक के अन्दर नाटक' (A Play within a Play) कहा जा सकता है। कथा का सूत्र कहीं टूटा नहीं है। अन्तिम आठवें दृश्य में सब कुछ स्पष्ट समाप्त हो जाता है।

वास्तव में इसे एकांकी नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

दोनों नाटकों की प्रस्तावना के पढ़ने से गोस्वामीजी के उद्देश्य का पता चलता है :

'......यह भी समय की खूबी है, जिस देश में इस विद्या का प्रथम प्रथम प्रादुर्भाव भया, और संगीत साहित्य परिपक्व होकर पृथ्वी भर में व्याप्त गये आज वहाँ के निवासी नाटक का नाम तक नहीं जानते! यदि है तो इन्द्रसभा पारसियों के शतरंजी मशालवाले भ्रष्ट खेल ही पर नाटकों की इतिश्री है। खेलना तो दूर रहा जो नाटक रचे या अभिनय करे वह हास्यास्पद गिना जाता है। छिः छिः !!"[१]

'अहा! आज हमारा कैसा सुप्रभात है कि बहुत दिनों पर फिर नाटक खेलने के लिए बुलाए गए। हा! एक दिन वह भी था कि रात दिन इसी काम के मारे साँस नहीं मिलती थी और एक दिन यह भी है कि खाली हाथ घर बैठे बरसों बीत जाते हैं पर नाटक खेलने के लिए कोई पूछता ही नहीं।.........यह अलौकिक गुण नाटक ही में है कि जिसके द्वारा अनेक विभिन्न समाज और विभिन्न प्रकृति के लोगों का मन एकरसमय हो जाता है.........और देखो, नाटक से बढ़कर कोई ऐसा दूसरा उपाय नहीं है जिससे सर्वसाधारण को सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर उसका

---

१. मयंकमंजरी, पृ० २

पूरा-पूरा सुधार किया जाय।"[1]

उपरोक्त वाक्य तत्काल नाटक की आवश्यकता और उसकी दशा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

असत काव्य को छोड़ि, सबै कविता रस पागैं।
त्यागि भाँड़ के खेल, राग रागनि अनुरागैं ॥[2]

गोस्वामीजी ने भी इसकी पूर्ति का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। *मयङ्कमञ्जरी* की अपेक्षा *नाट्य-सम्भव* में वह कुछ अधिक सफल हुए हैं। प्रथम में कविता के आधिक्य ने उनके अन्य सब नाटकीय गुणों को छिपा लिया है। यद्यपि अपने इस मोह को *नाट्य-सम्भव* तक आते आते १३ वर्षों के दीर्घ काल में भी वह छोड़ नहीं सके हैं, परन्तु फिर भी उनके दूसरे नाटक के संवादों में अधिक प्रौढता है और उनके पात्र गाथा-जन्य होते हुए भी कुछ अपना निजी अस्तित्व रखते हैं। उनके दमनक और रैवतक बहुत सजीव हैं। 'स्वगत' की मात्रा भी इसमें कम है। गीतिकाव्य की दृष्टि से भी *मयङ्कमञ्जरी* के गीत सवैयों और घनाक्षरियों के झुण्ड में बिलकुल दब गए हैं परन्तु *नाट्य-सम्भव* के गीत स्पष्ट और बहुत ही परिस्थिति के अनुकूल हैं।

गोस्वामी जी के नाटकों में कुछ कमियाँ भी हैं परन्तु उन पर हम यह कह कर सन्तोष कर सकते हैं कि वह साहित्यिक होते हुए भी ऐसे समय में रह रहे थे जिसमें समाज का नूतन संगठन आवश्यक समझा जा रहा था। अतएव अपने 'सुधारक' रूप का विस्मरण वह कर ही नहीं सकते थे।

---

१. नाट्य-संभव, पृ० १

२. नाट्य-संभव, पृ० ६८

अध्याय ४

संधिकाल

(१९०५—'१५ ई०)

इससे पहले तक की राजनीतिक हलचल और उसके कारण नाटकों पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर पिछले अध्याय में संकेत हो चुका है। प्रस्तुत काल इस दृष्टि से संकुचित और सीमाबद्ध होते हुए भी अपनी विचित्रता रखता है।

राजनीति भारत के निवासियों में नवीन प्रेरणायें उत्पन्न करती थी। अपने पूर्ववर्तियों की नीति ने लार्ड कर्जन को १६ अक्तूबर सन् १९०५ को 'बंग-भंग' करने के लिए विवश किया। इसके परिणाम-स्वरूप वहाँ जनता में एक व्यापक और ज़बर्दस्त आन्दोलन उत्पन्न हुआ और उसी उग्रता से सरकार ने भी उसे दमन करना आरंभ किया। उस आन्दोलन ने धीरे-धीरे सर्वदेशव्यापी रूप धारण किया और सभी प्रान्तों में इसके विपरीत आवाज़ उठी, परन्तु सरकार ने कुछ सुनवाई न की, जिसके कारण जनता में घोर असन्तोष और सरकार के प्रति घृणा की वृद्धि हुई। सन् १९०७ में कांग्रेस ने प्रस्तावों की प्रणाली को छोड़कर उनके अनुसार कार्य करने का दृढ़ निश्चय किया। राष्ट्रीय संस्था द्वारा Direct Action का यह प्रथम उद्योग था। विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार, स्वदेशी का आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा का विकास—इस त्रिमुखी धारा को ले कर वह जनता के सामने आई; परन्तु दुर्भाग्य-वश इस नीति पर उसी वर्ष कुछ दलों में मतभेद हो गया। नरम और गरम दल वाले अपनी अपनी नीति का पल्ला पकड़ कर अलग हो गए। इसी विषय को लेकर उस वर्ष *'हिन्दी-प्रदीप'* में दो तीन दृश्यों में वहाँ

की दशा का लेखबद्ध नाटकीय प्रदर्शन किया गया था। इस समय तक दादाभाई नौरोजी का 'स्वराज्य' भी काँग्रेस में आ गया था। अतएव राजनीतिक दृष्टि से प्रस्तुत काल 'स्वराज्य-काल' कहलाया। सन् १९०७ में ही लोकमान्य तिलक को निर्वासन-दण्ड दिया गया और पहली वार अंगरेजी न्याय-प्रियता का नग्न रूप देश के सामने आया।

इन घटनाओं के पश्चात् सन् '१४ तक आपस के मेल-प्रयत्नों का दौरदौरा रहा और इतने ही में महासमर आरंभ हो गया। सन् १९१५ में फिर राजनीति ने पलटा खाया। लोकमान्य सजा काट कर वापिस आये और उन्हीं के हाथों में देश के अधिकांश भाग का पथ-प्रदर्शन रहा। 'स्वराज' का स्थान 'होम-रूल' के नारे ने ले लिया। गांधी जी भी काँग्रेस के सभापति द्वारा पहली बार विषय-समिति के सदस्य चुने गए। काँग्रेस के अन्दर अब सब प्रकार के दलों के प्रवेश की सुविधा हो गई। एक ओर यह राजनीतिक स्थिति थी। दूसरी ओर साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। भाषा को सुव्यवस्थित और व्याकरण-सम्मत बनाने का सतत उद्योग उन्होंने किया और उसमें सफलता पाई। भाषा के स्वतंत्र प्रयोगों के लेखक डरने लगे और द्विवेदी जी के नियंत्रण में उन्होंने लिखना आरंभ किया।

पश्चिम से आए हुए ज्ञान ने भी हमारे मानसिक दृष्टि-कोण को अधिक विस्तृत किया। भारत सरकार द्वारा स्थापित 'प्राचीन-शोध और अन्वेषण के विभाग' की खोजों ने भारतीय संस्कृति और उसके साहित्य पर नया प्रकाश डाला जिसके कारण पढ़े लिखे लोगों का ध्यान और अधिक तीव्रता से अपने पुराने ग्रन्थों के पठन-पाठन और प्राचीन इतिहास की टूटी हुई शृंखलाओं को गुंफित करने में लगने लगा।

यह काल विशेष रूप से भावुकता और बुद्धिवाद का संधिकाल बना। प्रस्तुत काल के नाटक-साहित्य की उत्पत्ति और विकास का

विवरण इन्हीं परिस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार हमारा नाटक साहित्य पुरानी धाराओं का अनुगामी और सहयोगी था ही परन्तु पुरानी शराब को नई बोतलों में ढालना प्रस्तुत काल में उसका प्रधान लक्षण रहा।

राम-धारा के अन्तर्गत कोई आधे दर्जन के लगभग नाटक रचे गये। रामनारायण मिश्र कृत *'जनक-बाड़ा* (१९०६); ब्रजचंद वल्लभ कृत *रामलीला* (१९०८); गंगाप्रसाद कृत *रामाभिषेक* (१९१०); गिरधर लाल रचित *रामवन-यात्रा* (१९१०); नारायण सहाय कृत *रामलीला नाटक* (१९११) और रामगुलाम लाल कृत *धनुषयज्ञ-लीला* (१९१२)।

इन नाटकों में राम के चरित को वैज्ञानिक दृष्टि से न देख कर उनका पौराणिक रूप ही अपनाया गया। उनके देवत्व और ईश्वरत्व की ही प्रधानता रही। वैसे तो उनके नाम से ही इनमें वर्णित राम की लीलाओं का ज्ञान हो जाता है परन्तु गंगाप्रसाद जी का नाटक इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इसका नाम *रामाभिषेक नाटक* है परन्तु इसमें तीन घटनायें वर्णित हैं—रामाभिषेक की तैयारी, राम वन-यात्रा और राजा दशरथ की मृत्यु। नाटक महाराज दशरथ की मृत्यु पर समाप्त होता है। अतएव इसका उचित नामकरण तो 'दशरथ-पर्यवसान' ही होना चाहिए था क्योंकि अन्य दोनों घटनायें इसी दुखान्त परिणाम की ओर ले जाने वाली हैं।

कला की दृष्टि से भी यह नाटक इसी धारा वाले अन्य नाटकों से अच्छा है। इसका कथा-विकास सुन्दर है। गीति-काव्य का पुट तो इतना अधिक है कि राम और सीता भी गीत गाते हैं और रानियाँ विलाप करते करते गाने लगती हैं। संभवतः यह पारसी रंगमंच का प्रभाव है।

अन्य नाटक केवल रामलीला के लिए बने प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार *कृष्ण-धारा* के अन्तर्गत भी कुछ नाटक लिखे गए—

शिवनंदन सहाय कृत *सुदामा* (१९०७), बनवारी का *कृष्णकथा* व *कंस-वध* (१९०९); वृजनन्दन सहाय का *उद्धव* (१९०९) और रामनारायण मिश्र कृत *कंस-वध* (१९१०)—परन्तु किसी में भी नाटकीय उत्कृष्टता न आ सकी। इनमें केवल धार्मिक दृष्टिकोण की ही प्रधानता रही। आगे लिखे जाने वाले कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी रंगमंचीय नाटकों के लिए प्राचीन परम्परा की यह रक्षा बहुत उपयोगी रही।

पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखे जाने वाले अन्य नाटकों में प्रधान हैं :

महावीरसिंह का *नल-दमयन्ती* (१९०५); गौरचरण गोस्वामी का *अभिमन्यु-वध* (१९०६); सुदर्शनाचार्य कृत *अनर्घ नल-चरित्र* (१९०६); कुशीराम का *राजा हरिश्चन्द्र* (१९०८); बाँकेबिहारीलाल की *सावित्री-नाटिका* (१९०८); विंदेश्वरी दत्त शुक्ल का *शिवाशिव* (१९०९); लक्ष्मी प्रसाद का *उर्वशी* (१९१०); हनुमंतसिंह क्षत्री का *सतीचरित्र* (१९१०); शिवनंदन मिश्र कृत *शकुन्तला* (१९११); जयशंकर 'प्रसाद' का *करुणालय* (१९१२); बद्रीनाथ भट्ट का *कुरुवनदहन* और रामगुलामलाल का *सतीदहन*।

उपरोक्त सूची में अधिकतर सामान्य नाटक ही हैं। उल्लेख-योग्य हैं केवल प्रसाद का *करुणालय* और बद्रीनाथ भट्ट का *कुरुवन-दहन*। पहले में राजा हरिश्चन्द्र की कथा है जिसका आधार अहिंसा और करुणा हैं और दूसरा संस्कृत के *वेणीसंहार* का नया रूपान्तर है।

कुरुवनदहन की भूमिका में भट्टजी ने स्वयं लिखा है—"इसको यदि वेणीसंहार का रूपान्तर कहें तो भी अनुचित न होगा। इसे पढ़ने पर पाठकों को मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त संस्कृत नाटक की सहायता से लिखे जाने पर भी इसका नाम बदलना सर्वथा उचित ही हुआ है क्योंकि उसमें और इसमें बड़ा अंतर है। कितने ही नये व्यक्ति, कितनी ही नई बातें

कितनी ही बातचीत इसमें नहीं रखी गई है; उसमें छः अंक हैं, इसमें सात हैं; उसमें द्रौपदी के केशों का भीम द्वारा बाँधा जाना 'ही नाटक की कथा का केन्द्र माना गया है, इसमें यह यह बात नहीं है।

"उसकी और इसकी शैली में भी बड़ा भेद है। यह अंगरेजी ढंग पर ऐक्ट (अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया है जिससे खेलने में भी सुगमता पड़े। अंगरेजी नाट्य-रचना-पद्धति संस्कृत नाट्य-रचना-पद्धति से कहीं उन्नत तथा समयोपयुक्त है इसलिए उसका ही अनुसरण करना उचित समझा गया।"

नामकरण के संबंध में भट्ट जी ने कहा है—"इसकी मूल कथा का प्रारंभ महाभारत के उद्योग पर्व से होता है जब कंचुकी द्वारा भीम को यह सूचित कराया गया है कि दुर्योधन की सभा में कृष्ण जी का संधि-प्रस्ताव लेकर जाना निष्फल हुआ। वहाँ से लगाकर कौरवों के पूर्ण पराजय तथा दुर्योधन के मारे जाने तक की कथा इसमें है। इसीलिए इस नाटक का नाम '*कुरुवनदहन*' रक्खा गया है।"

भट्ट जी का प्राक्कथन उनके उद्देश्य को बिलकुल स्पष्ट कर देता है। यह प्रथम अवसर है जब किसी संस्कृत नाटक को आधार मानकर उसे हिन्दी में रूपान्तरित करने का गंभीर प्रयत्न किया गया। अन्यथा अब तक केवल अनुवाद या भावानुवाद ही हिन्दी में होते रहे। भट्ट जी ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने संस्कृत साहित्य की मर्यादा-रक्षा भी की और उसे नवीनता देकर समय के अनुकूल भी बनाया।

साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक का यही संधिकाल है। पुरातन और नवीन का यह योग भविष्य के लिए आवश्यक और स्वस्थ प्रयोग था। यद्यपि अपने नाटक में भट्ट जी पारसी मंच के चमत्कारों से (जिनके विषय में अगले अध्याय में विस्तार से लिखा गया है) अपने को बचा नहीं पाये हैं परन्तु उनका प्रयत्न स्तुत्य था इसमें सन्देह नहीं। उनकी हास्य-प्रवृत्ति ने कुरुवनदहन को और

अधिक मधुर बना दिया है।

ऐतिहासिक धारा के नाटकों में भी संधिकाल के लक्षण वर्तमान हैं। इसके नाटकों की सूची अधिक लंबी नहीं है, केवल शालिग्राम का *पुरु-विक्रम* (१९०६); वृन्दावन लाल का *सेनापति उदाल* (१९०९); शुकदेवनारायण सिंह का *वीर सरदार* (१९०९); बद्रीनाथ भट्ट के *चन्द्रगुप्त* और *तुलसीदास* (१९१५) तथा कृष्णप्रकाश सिंह का *पन्ना* (१९१५) उल्लेखनीय हैं।

अपनी पहली धारा से इस धारा में कुछ अन्तर स्पष्ट हो चला है। भारतेन्दु का *नीलदेवी* और राधाकृष्णदास का *राणा प्रताप* ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ऐतिहासिक वातावरण निर्मित करने में सफल नहीं हुए परन्तु आलोच्य काल के नाटकों में यह कमी कुछ अंशों तक दूर हो गई है। पूर्णता इनमें भी नहीं आ सकी है। भट्ट जी के *चन्द्रगुप्त* नाटक में 'महाराज चन्द्रगुप्त के समय की कुछ झलक दिखाने का प्रयत्न किया गया है।' लेखक अपने उत्तरदायित्व की ओर से सचेत है, यह दूसरी बात है कि उसे सफलता कितनी मिल पाई है। यह सत्य है कि *चन्द्रगुप्त* नाटक में ऐतिहासिक पात्र चन्द्रगुप्त, चाणक्य, राक्षस एवं सेल्यूकस आदि इतने स्पष्ट नहीं हो पाये हैं जितने परिहासप्रिय वैद्य और कवीश्वर। अंगरेज़ी में प्रसिद्ध कथा *'डैमन और पिथियस'* के आधार पर अपने मित्र रणधीर को बचाने के लिए एक यवन व्यापारी महेन्द्र के प्राण त्यागने पर उतारू हो जाने की घटना अधिक नाटकीय महत्त्व नहीं रखती परन्तु यह तो निश्चय है कि लेखक देशी और विदेशी दोनों का समन्वय करना चाहता है। उसके *तुलसीदास* नाटक में भी यही बात है। इतिहास और जनश्रुति पर अवलम्बित तुलसी-चरित सम्बन्धी कई अलौकिक कथाओं को नाटक के वस्तु-विकास में स्थान दिया गया है परन्तु इसका कारण भी लेखक की वही मनोवृत्ति है जो विभिन्नता की नहीं एकता की इच्छुक है। भट्ट जी ने अपने

अन्य नाटकों—*दुर्गावती* और *वेनचरित्र*—में इसी प्रयत्न को जारी रखा है और इन अन्तिम दोनों में अन्य नाटकों की अपेक्षा उन्हें सफलता भी अधिक मिली है। यद्यपि इनका सम्बन्ध प्रस्तुत आलोच्यकाल से नहीं है परन्तु भट्ट जी के प्रयास पर ध्यान देते समय इन दोनों को केवल रचनाकाल के कारण अन्य नाटकों से पृथक् नहीं किया जा सकता। साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों में एकता लाने का उनका उद्योग विकास-क्रम के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

समस्या-प्रधान नाटकों की धारा में एक विशेषता यह मिलती है कि अब तक सामाजिक और देशप्रेम की समस्याओं के जो पृथक् दो स्पष्ट रूप मिलते थे वे इस काल में आकर एक दूसरे में इतने मिलने लगे कि उन्हें पृथक् करना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त राजनीतिक प्रभावों के कारण जो दशा वर्तमान थी उसको लेकर भी नयी दागबेल डाली गई।

इस धारा के नाटकों में प्रधान हैं—भगवती प्रसाद का *वृद्धविवाह-नाटक* (१९०५); गौरचरण गोस्वामी का *भूषण दूषण* (१९०६); रुद्रदत्त शर्मा कृत *कंठी जनेऊ का विवाह* (१९०६); जीवानन्द शर्मा का *भारत-विजय* (१९०७); राजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का *दुखिया* (१९०८); कुंजीलाल जैन का *वीरेन्द्र वर अर्थात् सत्य* (१९१४); प्रयागप्रसाद त्रिपाठी का *हिन्दी साहित्य की दुर्दशा* (१९१४); राधामोहन गोस्वामी का *भारत-रहस्य* (१९१४); लोचनप्रसाद शर्मा का *प्रेम-प्रशंसा और साहित्य-सेवा* (१९१४) तथा *छात्र-दुर्दशा* और *ग्राम्य विवाहविज्ञान* (१९१५); कृष्णानन्द जोशी का *'उन्नति कहाँ से होगी?'* (१९१५) तथा मिश्रबन्धुओं का *नेत्रोन्मीलन* (१९१५)। परन्तु इतनी लंबी सूची में भी कुछ तो आजकल अप्राप्य हैं और शेष में कोई विशेषता नहीं है। इनमें उल्लेखनीय केवल *नेत्रोन्मीलन* है।

नेत्रोन्मीलन में सरकारी अदालतों का दृश्य है। इसके पात्र हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रजा में अदालतों का क्या रोब और भय है, उसके अधिकारी वर्ग किस प्रकार के हैं, वकीलों का पेशा कैसा होता है, वादी प्रतिवादी किस प्रकार इनके चंगुल में फँस जाते हैं और अन्त में उनकी क्या दशा होती है आदि विषयों पर इस नाटक में अच्छा प्रकाश डाला गया है। उर्दू तथा पूर्वी बोली के पात्रों के कारण नाटक के संवाद सजीव हो उठे हैं। वैसे इसका श्रीगणेश तीन अप्सराओं के नाच-गान से होता है और घटना 'डिगरी और दखल दिहानी' की कार्रवाई से आरम्भ होती है जिसमें एक महाजन प्रजापति का सिपाही गजराजसिंह अमीरअली और उसके भाई निसारअली की लाठी द्वारा अपना हाथ तुड़वाने पर मजबूर होता है। घटना फौजदारी का रूप धारण करती है और फिर कानूनी कार्रवाई आरम्भ हो जाती है। अन्त हाईकोर्ट के फैस [illegible]। लेखकद्वय ने बड़ी सावधानी से अपने अदालती अनुभव को नाटक-बद्ध किया है। जैसा संकेत किया जा चुका है यह विषय भी नाटक-साहित्य के लिए बिलकुल ही नया है और इसका प्रमाण है कि हिन्दी में पुरातन और नूतन के परस्पर मिलन का उद्योग किया जा रहा था।

इन नाटकों के अतिरिक्त अन्य नाटक भी लिखे गए जिनके रंगमंचीय होने के कारण उन पर पाँचवें अध्याय में विचार किया गया है।

प्रेम-प्रधान धारा के भी नाटक इस काल में लिखे गए। ऐसे नाटकों में प्रधान हैं—परमेश्वर मिश्र का *रूपवती* (१९०७); हरिनारायण चतुर्वेदी का *कामिनी-कुसुम* (१९०७); हरिहरप्रसाद जिजल का *कामिनी-मदन* (१९०७) और कन्हैयालाल का *रत्न सरोज* (१९१०)। कलात्मक दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। ठीक यही दशा प्रहसनों की भी है। बद्रीनाथ भट्ट का *'चुङ्गी की उम्मेदवारी'* (१९१२) नामक प्रहसन कुछ

अच्छा बन पड़ा है। अन्य लेखकों में शिवनाथ शर्मा उल्लेख-योग्य हैं परन्तु उनके प्रहसन अप्राप्य हैं।

अनुवाद

कुछ अनुवाद संस्कृत से किये गये जिनमें सत्यनारायण का *उत्तरराम-चरित* का अनुवाद (१९१३) बहुत सुन्दर है। ला० सीताराम कृत *मृच्छकटिक* (१९१३) तथा सदानंद अवस्थी का *नागानंद* (१९०६) भी उल्लेख-योग्य हैं। *उत्तरराम-चरित* के अनुवाद ने हिन्दी जनता में सीता और राम के उत्तर चरित की ओर अधिक ध्यान आकृष्ट किया यह निर्विवाद ही है। लोक-प्रिय होने पर भी स्वतंत्र रूप से किसी नाटककार ने इस प्रसंग को हिन्दी में नाटक-बद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्य अनुवाद भी केवल साहित्य की श्रीवृद्धि मात्र रहे।

अंगरेज़ी के शेक्सपियर के कुछ नाटकों का अनुवाद समय समय पर ला० सीताराम ने किया—*मनमोहन का जाल* (१९१२), *भूल भुलैयाँ* (१९१५), *हैमलेट* (१९१५), *रिचर्ड द्वितीय* (१९१५) तथा *मेकबेथ* (१९१५)—परन्तु इन अनुवादों में मूल की आत्मा निष्प्राण ही है।

यही हाल बँगला के अनुवादों का है। ब्रजनंदन सहाय ने *बूढ़ा वर* (१९०९) और *सप्तम प्रतिमा* (१९०६) ये दो अनुवाद किए। अनुवाद बड़े सफल प्रतीत होते हैं परन्तु हिन्दी-नाटक साहित्य पर उनका कोई प्रभाव दृष्टि-गत नहीं होता।

इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त हिन्दी में रंगमंचीय नाटक साहित्य का निर्माण इस काल में हुआ जिसका विवरण अगले अध्याय में किया गया है।

अतएव इन विवरणों से यह स्पष्ट है कि आलोच्यकाल में लेखकों का यही प्रयत्न रहा कि विभिन्न धारायें यथासम्भव मिलकर एक

हो जावें, साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों में भेद भाव न रहने पावे और संस्कृत तथा अंगरेज़ी नाट्य-विधान में भी समन्वय की स्थापना हो। पारसी रंगमंच के चमत्कार और व्यवसायी होने के कारण उसमें और शास्त्रीय रंगमंच में जो ऊपरी भेद दिखाई देता था वह मिट जाये।

संक्षेप में भाषा, भाव, विधान और विषय सभी की दृष्टि से प्रस्तुत काल का नाटक-साहित्य संधिकाल का साहित्य ही कहा जा सकता था और इसी में उसकी विशेषता थी।

उपसंहार

संधिकाल में उच्चकोटि के नाटक-साहित्य का निर्माण तो नहीं हुआ परन्तु उसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ अवश्य उत्पन्न हो गईं जो आगे चल कर लोकप्रिय नाटक-साहित्य में सहायक सिद्ध हुईं और जिनके स्वास्थ्यप्रद प्रभाव ने प्रसाद एवं उनके पश्चात् के नाटककारों के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया। पं० बद्रीनाथ भट्ट इस प्रवृत्ति के दृढ़ उन्नायक थे।

———

अध्याय ५

रंगमंच और रंगमंचीय नाटक

(सन् १८६२—१९२३ ई०)

"हिन्दी भाषा में जो सब से पहला नाटक खेला गया वह जानकी-मंगल था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ (सन् १८६२) में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया।"

—भारतेन्दु, *'नाटक'* पृ० ६६

पिछले अध्यायों में साहित्यिक हिन्दी नाटकों के विकास पर विचार हो चुका है। प्रसंगवश रंगमंचीय नाटकों का उल्लेख भी कहीं कहीं कर दिया गया है। परन्तु रंगमंचीय नाटकों का इतिहास अपना स्वतंत्र स्थान रखता है। संक्षिप्त रूप में ही यहाँ इस पक्ष पर विचार किया गया है।

सत्य तो यह है कि 'हिन्दी-रंगमंच' कहलाने वाली और इस नाम को सार्थक करने वाली कोई स्थायी चीज़ हिन्दी-जगत के पास अभी तक भी नहीं है। इस ओर बहुत से प्रयत्न समय समय पर हुए और अभी तक भी वे जारी हैं। अतएव हिन्दी रंगमंच और उस पर अभिनीत हुए, होने वाले या होने के लिए लिखे जाने वाले नाटकों का इतिहास वास्तव में या तो उन नाटक-मंडलियों का इतिहास मात्र है जिनका जन्म समय समय पर हिन्दी-भाषा-भाषी विभिन्न नगरों में हुआ और जिन्होंने जनता में हिन्दी भाषा और उसके नाटकों के सम्बन्ध में रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया अथवा वह केवल उन नाटकों का विवरण मात्र है जो उन्हीं के प्रभाव के कारण लिखे गए।

ये नाटक मंडलियाँ दो प्रकार की थीं—व्यवसायी और अव्यवसायी। व्यवसायी कंपनियों का रंगमंच स्थायी न होकर चलता फिरता रंगमंच था। जिस नगर में जातीं वहीं अपना समान उठा कर ले जातीं। अव्यवसायी मंडलियों का भी कोई उल्लेख-योग्य प्रेक्षागृह नहीं था। वे केवल अभिनय के समय एक अस्थायी प्रेक्षागृह स्थापित कर लेतीं और काम निकलने के पश्चात् वह प्रेक्षागृह फिर अपने तत्त्वों में मिला दिया जाता।

हिन्दी रंगमंच

जिस रंगमंच पर हिन्दी के नाटकों का अभिनय आरंभ हुआ वह सीधा संस्कृत रंगमंच से नहीं लिया गया। अंगरेज़ी रंगमंच के प्रभाव से उसका जन्म हुआ है। यद्यपि मूल रूप में संस्कृत और अंगरेज़ी रंगमंच में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, जैसा परिशिष्ट में दिखाया गया है परन्तु फिर भी हिन्दी का रंगमंच अपने बाह्य रूप में पश्चिम का अनुकरण अधिक है।

इस पश्चिमी रंगमंच का जन्म भारत में उसी समय हो गया जब अंगरेज जाति ने अपने पैर यहाँ अच्छी तरह जमा लिये। इस कारण इसका विकास भी सर्वप्रथम बंगाल में ही हुआ क्योंकि अंगरेजी राजसत्ता की स्थापना सबसे पहले इसी प्रान्त में हुई थी। यहीं पर पश्चिमी ढंग के नाटकों का अभिनय आरंभ हुआ और वह विकसित होते होते अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। बंगाल के इन रंगमंचों पर, जो प्रायः कलकत्ते में थे और जिनका आरम्भ घरेलू आनन्द प्रमोद के रूप में हुआ था, सब से पहले अंगरेजों द्वारा अंगरेजी के नाटक खेले गए। धीरे धीरे उनका स्थान उन्हीं के बँगला रूपान्तरों ने ग्रहण किया और अन्त में बंगाली सज्जनों की सहायता से बंगाली धन लगा कर कुछ ऐसे रंगमंचों की स्थापना की गई जिन पर बँगला भाषा में

लिखे गए नाटकों का सुन्दर अभिनय होता था और उसे देखने के लिए बड़ी उत्सुकता से जनता वहाँ उपस्थित होती थी। ये नाटकघर प्रायः व्यवसायी थे और बँगला नाटक साहित्य को इनके द्वारा पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सब नाटक सुरुचि ही उत्पन्न करने वाले हों, ऐसी बात नहीं थी। इनमें अराजकता की वृद्धि और सुरुचि का अभाव देखकर सन् १८७६ में भारत सरकार ने The Dramatic Performances Act of 1876 नामक कानून बनाकर अभिनय पर कड़ा बंधन लगा दिया। यद्यपि इसका विशेष कारण अंगरेज़ी नाटकों के अभिनय और उनसे उत्पन्न होने वाले अवांछित वातावरण का प्रसार ही प्रमुख था।

परन्तु हिन्दी-रंगमंच का संबंध अपने पड़ोसी बँगला-रंगमंच से बिलकुल नहीं है। इसका आरंभ भी बँगला की तरह स्वतंत्र रूप से हुआ। पहले कैसर-बाग के रंगमंच का उल्लेख हो चुका है।* इसके पश्चात् बनारस में *जानकी-मंगल* खेला गया। तत्पश्चात् रंगमंच का प्रधान केन्द्र बम्बई बना। हिन्दी-रंगमंच का आदि रूप स्पष्टतया उस रंगमंच में मिलता है जिसे अभी तक 'पारसी-रंगमंच' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे अध्याय में जिस 'पारसी-रंगमंच' की ओर संकेत किया गया है वह भी यही पारसी-रंगमंच है। रंगमंच के जन्म और विकास की दृष्टि से इतना कथन पर्याप्त है। पारसी-रंगमंच की विशेष रूप-रेखा परिशिष्ट में दे दी गई है।

नाटक-मंडलियाँ

जिन नाटक-मण्डलियों द्वारा रंगमंचीय नाटकों का जन्म और विकास हुआ वे दो प्रकार की थीं—

(अ) व्यवसायी और (आ) अव्यवसायी।

---

* अध्याय १.

(अ) व्यवसायी नाटक मंडलियाँ

सर्वप्रथम इस वर्ग में पारसी नाटक मण्डलियाँ आती हैं।

पारसी जाति व्यवसायी और धन-सम्पन्न जाति है। उनके ऊपर पश्चिम का रंग अच्छी तरह चढ़ गया है। अन्य भारतवासियों पर भी जब इस जाति ने पश्चिमी प्रभाव के चिह्न देखे तो इसके कुछ सज्जनों ने व्यावसायिक रूप से ऐसी कम्पनी खोलने का निश्चय किया जिसके द्वारा वे जनता को नाटक दिखा कर धनोपार्जन कर सकें। इसी उद्देश्य को लेकर बम्बई में सबसे पहले एक नाटक कम्पनी खुली। इसका नाम Original Theatrical Company था। यद्यपि इसके समय का निश्चय नहीं परन्तु यह निर्विवाद है कि सन् १८७० में यह वर्तमान थी। सेठ पेस्टनजी फ्रामजी इसके मालिक थे। पारनीस, खुरशेदजी बल्लीवाला, कावसजी खटाऊ, सोहराबजी और जहाँगीरजी आदि पारसी सज्जनों ने इस कम्पनी में अभिनय कर बहुत ख्याति प्राप्त की थी। कम्पनी के नाटक-लेखकों में उसके मालिक के अतिरिक्त दो और नाटककार थे जो उसके लिए नाटक लिखा करते थे। इनमें मोहम्मद मियाँ 'रौनक' बनारसी और हुसैन मियाँ 'ज़रीफ़' उल्लेखनीय हैं। 'रौनक़' साहब के नाटकों में से *इन्साफ़े-महमूदशाह'* बहुत प्रसिद्ध है। सन् १८८२ में बंबई में गुजराती लिपि में यह छापा भी गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कम्पनी के लिए अंगरेज़ी के कई नाटकों के रूपान्तर भी तैयार किए परन्तु वे छपे नहीं। 'ज़रीफ़' ने तो लगभग ३० नाटक लिखे जिनमें उल्लेखनीय हैं—

१. *नतीजये-अस्मत*	२. *तौफ़ये-दिलकुशा*
३. *खुदा दोस्त*	४. *बुलबुले बीमार*
५. *चाँद बीबी*	६. *तोहफ़ये-दिल पज़ीर*
७. *शीरीं-फरहाद*	८. *नकशये सुलेमान*

९.	*अलीबाबा*	१०.	*इशरत-सभा*
११.	*लैला-मजनूँ*	१२.	*छैल बटाऊ*
१३.	*गुल-बकावली*	१४.	*नौरंगे-इश्क*
१५.	*हवाई मजलिस*	१६.	*नसरो हुमायूँ*
१७.	*हातिम ताई*	१८.	*लाल गौहर*
१९.	*बदरे मुनीर*	२०.	*खुदादाद*

पेस्टन जी की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी टूट गई और इसके दो प्रमुख अभिनेताओं ने अपनी निजी दो कम्पनियाँ खोल लीं।

सन् १८७७ में खुरशेद जी बल्लीवाला ने दिल्ली में आकर जो कम्पनी खोली उसका नाम रखा गया Victoria Theatrical Company। इसके मुख्य अभिनेताओं में स्वयं कम्पनी के मालिक बल्लीवाला—जो बड़े अच्छे कामिक ऐक्टर गिने जाते थे—तथा रुस्तमजी थे। इनके अतिरिक्त इसमें मिस खुरशीद और मिस मेहताब दो बड़ी प्रसिद्ध नर्तकियाँ भी थीं और उनके साथ में एक अंगरेज़ महिला भी काम करती थी जिसका नाम मैरी फेंटन था। कम्पनी के प्रमुख नाटककार बनारस निवासी मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब' थे जिन्होंने अनेक नाटक लिखकर कम्पनी को दिये और उसके रंगमंच से खिलवाये भी। उनके उर्दू नाटकों में *'लैलो-निहार'*, *'दिलेर-दिलशेर'*, *'निगाहे-ग़फ़लत'* प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने *'गोपीचन्द'*, *'हरिश्चन्द्र'*, *'रामायण'*, *'कनकतारा'* आदि भी लिखे। उर्दू नाम रखते हुए भी ये नाटक अधिकतर हिन्दी भाषा में हैं जिसे वास्तव में खिचड़ी-भाषा कहना अधिक उचित है। विक्टोरिया कम्पनी के उत्साही मालिक इसे विलायत भी ले गये थे परन्तु वहाँ उन्हें सफलता न मिली। मिलती भी कैसे? भारत सरीखी अनपढ़ जनता तो वहाँ थी नहीं जो छिछोरपन की हँसी दिल्लगी और कृत्रिम हाव भाव भंगिमा पर ही तालियाँ पीटने लग जाती। भारत आने पर बल्लीवाला ने अपने नुक-

समाज को फिर पूरा कर लिया परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् कम्पनी तितर बितर हो गई।

लगभग इसी समय (सन् १८७७) में बल्लीवाला के समकालीन साथी कावसजी खटाऊ ने Alfred Theatrical Company की स्थापना की। मनछेरशाह, गुलज़ार खाँ, माधोराम, मास्टर मोहन, मास्टर मनछेरजी, मिस ज़ोहरा और मिस गौहर—इसके प्रमुख अभिनेता और अभिनेत्रियाँ थीं। खटाऊ स्वयं बड़े प्रसिद्ध अभिनेता थे और अपने साथी बल्लीवाला के विपरीत 'ट्रैजिक ऐक्टर' समझे जाते थे। लोगों ने उन्हें भारत का Irving बना दिया था। कावसजी ने उर्दू रूपान्तर *रोमियो और जूलिएट* में प्रधान नायक का सफल अभिनय किया था। १९१४ में खटाऊ की मृत्यु के उपरान्त यह कम्पनी मि० मदन को बेच दी गई। इसके भी दो प्रधान नाटककार थे—लखनऊ के निवासी सैयद मेहदी हसन 'अहसान' और देहली वाले पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'। 'अहसान' ने कुछ मौलिक नाटक लिखे और कुछ शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर भी किए। *चन्द्रावली, बकावली, दिल फ़रोश, गुलफ़रोश, चलता पुर्ज़ा, हैमलेट* और *भुलभुलैयाँ* उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनायें हैं। इसी प्रकार *क़त्ले-नज़ीर, जहरी साँप, फ़रेबे-मुहब्बत* 'बेताब' के प्रसिद्ध उर्दू नाटक हैं, परन्तु 'बेताब' की ख्याति का मुख्य कारण उनके हिन्दी नाटक *महाभारत, रामायण, गोरखधन्धा, पत्नि-प्रताप* और *कृष्ण-सुदामा* हैं।

चौथी कम्पनी New Alfred Company के नाम से स्थापित हुई। इसके मालिक मोहम्मद अली 'नाखुदा' और सोहराबजी थे। सोहराबजी स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता थे और विशेषतया हास परिहास का अभिनय करते थे। इनके साथी अभिनेताओं में अब्बास अली और अमृतलाल केशव जो बाद को इस कम्पनी को छोड़कर अन्यत्र चले गए, प्रमुख थे। आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी और पं० राधे-

श्याम कथावाचक इस कम्पनी के मुख्य नाटककार थे।

हश्र ने दर्जनों उर्दू नाटक लिखे जिनमें *शहीदे-नाज़, मीठी छुरी, ख्वाबे ठंडी आग, सैदे-हविस, खूबसूरत बला, सिलवद-किंग, तुरकी हूर,* आदि बहुत ही लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुए। हिन्दी में भी इन्होंने अनेक नाटकों की रचना की—*सूरदास, गङ्गा-औतरण, वनदेवी, सीता-वनवास, मधुर-मुरली, श्रवणकुमार, धर्मी बालक* और *आँख का नशा* आदि।

पं० राधेश्याम के नाटक *वीर अभिमन्यु* से तो इस कम्पनी ने हज़ारों रुपया कमाया। जब कभी भी यह नाटक होता धूम मच जाती और रंगमंचीय अभिनय देखने के लिए जनता उमड़ पड़ती!

कुछ दिनों पश्चात् New Alfred शिथिल पड़ गई। आगा हश्र ने उसे छोड़कर अपनी नई कम्पनी Shakespeare Theatrical Company के नाम से चला दी, परन्तु कुछ दिनों के बाद अपनी असफलता के कारण उसे भी तिलांजलि दे दी। इस समय तक पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों की एक बाढ़ सी आगई थी। Old Parsi Theatrical Company (लाहौर), Jubilee Company (देहली); Alexandria Company, Imperial Company और Light of India Company आदि अनेक कम्पनियों ने जन्म धारण किया और फिर थोड़े से दिनों तक अपना अपना जलवा दिखा कर विलीन हो गईं। अलेक्जेंड्रिया कम्पनी का *'वतन'* उस समय की राष्ट्रीय-माँग के अनुकूल बहुत ही सुन्दर नाटक था और वह लोक-प्रिय भी काफ़ी हुआ। 'नय्यर' के बनाए हुए गानों ने उसके संवादों में बड़ी जान डाल दी थी। भारतवासियों और अंगरेज़ों की दशा का अन्तर बतलाते हुए जब 'मकाँ से बाहर मकान वाले खड़े हुए हैं' गाना गाया जाता तो देखने वाले और सुनने वालों की रगों में जोश का दरिया लहरें मारने लगता था।

"अभी तो हाथ का कंगन न खुलने पाया था
क़ज़ा सुहाग दुलहिन का बढ़ाने आई है।"

वाली ग़ज़ल तो और भी गज़ब करती थी। दर्शक शिथिल अंगों में भी वतन की मोहब्बत की बू से सराबोर हो जाते और दाँत पीस कर अपनी वर्तमान हालत से छुटकारा पाने की सोचने लगते। परन्तु थोड़ी सी देर के बाद फिर वही बेबसी का वातावरण छा जाता—

"कलेजा ग़म से टुकड़े टुकड़े क्यों न हो 'नय्यर'।
हमें तो लाश पै रोने की भी मनाई है॥"

अपनी राष्ट्रप्रेमी 'धजा' की वजह से ही एक दो बार इस कम्पनी को सरकारी अफसरों का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

अन्य व्यवसायी कम्पनियाँ

पारसी नाटक कम्पनियों के अतिरिक्त काठियावाड़ की श्री सूर-विजय और मेरठ की व्याकुल-भारत नाम की दो मंडलियाँ और थीं। यद्यपि इनमें भी पारसीपन का प्रभाव विद्यमान था परन्तु इनका ध्येय हिन्दी के नाटक खेलना था और इसमें सन्देह नहीं कि पारसी कम्पनियों द्वारा जो कुरुचि और भद्दापन जनता को प्रिय हो चला था, उसको हटाने में इन्होंने बड़ी सहायता पहुँचाई। राधेश्याम का *उषा-अनिरुद्ध* सूर-विजय कम्पनी के बड़े सफल नाटकों में से था। मेरठ की व्याकुल-भारत कम्पनी ने भी हिन्दी की पर्याप्त सेवा की। विश्म्भर सहाय 'व्याकुल' का *बुद्धदेव* और जनेश्वर प्रसाद 'मायल' द्वारा लिखित *सम्राट-चन्द्रगुप्त* और *तेग़े सितम* इस कम्पनी के बड़े सफल नाटक थे। इस कम्पनी के संस्थापक स्वयं 'व्याकुल' जी थे जो उच्चकोटि के संगीतज्ञ एवं कुशल लेखक थे। जिह्वा में Cancer हो जाने के कारण उनकी बड़ी ही कष्टप्रद मृत्यु हुई और उनके पश्चात् यह मंडली भी छिन्न भिन्न हो गई।

इस मंडली को अन्य विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त था। काशी की भारतेन्दु नाटक मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता डा० वीरेन्द्रनाथ दास,

कुँवर कृष्ण कौल एम० ए० और केशवदास टंडन इसमें सक्रिय भाग लेते थे।

इनका नाट्य-विधान

व्यवसायी कम्पनियों के नाटकों का प्रायः एक ही प्रकार का नाट्य-विधान था। अपने नाटकों के लिए प्रत्येक कम्पनी अपने अपने नाटककार रखती और कम्पनी मालिक अपनी रुचि के अनुसार उनसे नाटक लिखाते। वे स्वयं ही उनका निर्देशन करते। नाटकों के चुनने में उनका ध्यान सदैव यही रहता कि अमुक नाटक जनता में लोक-प्रिय होकर अधिक से अधिक धनोपार्जन करा सकेगा या नहीं और उनके नाटक में अन्य कम्पनियों की अपेक्षा कोई ऐसा चमत्कार है या नहीं जिसके कारण जनता उसकी ओर अधिक आकर्षित हो। इस चमत्कार में भी एक विचित्र मनोवांछा रहती। चमत्कार उन्हें नाटक के प्लाट, उसकी भाषा अथवा रस-भावना के सम्बन्ध में अभीष्ट नहीं था। उनका अभिप्राय चमत्कार से दृश्य-दृश्यान्तर, रंगमंच की ऊपरी चटकमटक और वेश-भूषा की नवीनता में ही सन्निहित रहता था। साधारण पर्दों के साथ 'कटे-परदे' या टूटने वाले परदे (Folding Curtains) और 'टेबला' (Tableaux) इसी का परिणाम थे। उन्हें इस बात के देखने की इच्छा नहीं थी कि दृश्य दृश्यान्तर गति, समय और स्थान-समन्वय के अनुकूल हैं अथवा प्रति-कूल। उन्हें तो केवल अपनी दर्शकमंडली में आश्चर्य उत्पन्न करने और इस प्रकार उन्हें अपना गाहक बनाये रखने की धुन सवार थी। अपने विज्ञापनों में भी वह यही कहते। 'नये सीन सीनरी से युक्त' नाटक दिखाना ही उनका ध्येय था। किसी हिन्दुस्तानी राजा के दरबार में अंगरेजी वेशभूषा से सुसज्जित नर्तकियों का नाच केवल इसीलिए कराया जाता था कि एक दृश्य में दर्शकों ने उन नर्तकियों को जिस पोशाक में

देखा था उससे दूसरे दृश्य में भिन्नता हो और कम्पनी के मालिक को यह सुनने के लिए मिले कि उसके पास कितने प्रकार की ड्रेसें हैं।

प्रत्येक अंक के अन्त में ड्राप के साथ साथ यह विशेषतायें और भी अधिक महत्त्व रखती थीं। उदाहरण के लिए—

१. न्यू अलफ्रेड कम्पनी के *वीर अभिमन्यु* में जयद्रथ की मृत्यु पर नाटक के अन्त में यह दृश्य दिखाया जाता है—

["सब का जाना, सीन बदलना। वृद्धक्षत्र का तपस्या करते हुए दिखाई देना, उसकी गोद में जयद्रथ का कटा हुआ शीस पहुँचना। वृद्धक्षत्र का उठना और उसके शीस के भी टुकड़े टुकड़े होकर फटना।"

२. *महाभारत* नाटक में द्रौपदी के चीर-हरण के समय का दृश्य—

["दुश्शासन का द्रौपदी को नग्न करने के लिए चीर खींचना; चीर का बराबर बढ़ते जाना; परदे के भीतरी भाग में श्रीकृष्ण भगवान का अनन्त चीर प्रदान करते दिखलाई देना।"]

३. व्याकुल भारत कम्पनी के बुद्धदेव में नायक को अपनी तपस्या से भग्न करने के उद्योग में—

["दृश्य बदलता है। आँधी चलती है। अंधकार में बिजली की चमक और कड़क होती है। बादल गरजता है। आकाश में तारे टूटते हैं। बड़ी-बड़ी भयंकर विकराल नारकीय मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। किसी के मुँह से आग और किसी के मुँह से साँप निकलते हैं। अन्तरिक्ष में इधर से उधर तीर चलते हैं।"]

इनके अतिरिक्त सामने दिखाई देने वाले रंगमंच के खम्भों के टूटने और उनके पीछे से अभिनेताओं के प्रगट होने अथवा आकाश-मार्ग से देवी देवताओं के आविर्भाव तथा पुष्प-वर्षा के दृश्य तो बहुत ही साधारण सी वस्तु थे जो समयानुकूल प्रत्येक कम्पनी में दिखाये जाते थे। इनका यह परिणाम अवश्य होता था कि दर्शकमंडली इन अद्भुत दृश्यों को देखकर चकित और मंत्रमुग्ध हो जाती थी। अभिनय

के गुण दोष आदि की परख तो उसे पहले ही नहीं होती थी और जो कुछ थोड़ी सी होती भी तो ये दृश्य उन्हें भुलाने में समर्थ हो जाते।

नाटकों की कथावस्तु अधिकतर पौराणिक या धार्मिक ही रखी जाती क्योंकि कम्पनी मालिक यह अच्छी तरह जानते थे कि अधिकांश हिन्दू जनता में ऐसे ही नाटकों का चलन हो सकता है। *'गंगा-अवतरण'*, *'गणेश-जन्म'*, *'कृष्ण-सुदामा'*, *'महाभारत'*, *'सत्य-हरिश्चन्द्र'* आदि ऐसे ही नाटक थे। कुछ नाटक सामाजिक सुधारों को दृष्टि में रखकर भी लिखे गए थे। *'धर्मी बालक या गरीब की दुनिया'*, *'सिलवर-किंग'*, *'पत्नि-प्रताप'* आदि ऐसे ही नाटक थे। इन नाटकों की भाषा और संवादों में पर्याप्त शक्ति थी। व्यंग्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण उनमें से सुगमता से निकाले जा सकते हैं। उनमें एक बात खटकती है। साधारण बातचीत में भी लय-युक्त गद्य का प्रयोग विशेषरूप के किया गया है। बोलते-बोलते फ़ौरन ही कविता आरंभ हो जाती और जब तक पात्र के उतार-चढ़ाव से युक्त उसकी यह वार्ता चवन्नी वालों को सुनाई न दे जाती तब तक नाटक का अभिनय असफल ही समझा जाता।

संगीत—गानों की मात्रा भी इन नाटकों में बहुत अधिक है। साहित्यिक नाटकों का गीति काव्य इनमें नहीं है। ये तो केवल तुकबन्दियाँ हैं जो किसी न किसी तर्ज़ पर बैठा दी गई हैं। यहाँ तक कि इनके कारण *'थियेट्रिकल-तर्ज़'* नाम से एक नई तर्ज़ नाटक-संसार में चल पड़ी। इन के उदाहरण हैं:—

१. मैं आलम में बाँका जवाँ,
जिधर भरके देखी नज़र, शेरेबबर
काँपे जिगर, थरर थरर
मैं आलम में बाँका जवाँ॥

२. युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मेहमान रानियाँ यज्ञशाला और भवन को देखकर आनन्द के गीत गा रही हैं—

आली छाई आज जगत खुशहाली,
उमड़ घुमड़ आई घटा पीतवर्ण लिये लाली ॥
उत्सव की छवि माहिं हैं सब के नैन लगे;
पच्छिन के सब जोड़े शुभ आशिष देन लगे।
निज निज बोली में मनहर हैं,
सुरंग सुमन विघ्न हरत हरियाली ॥ आली० ॥

(*महाभारत*)

३. उत्तरा *वीर अभिमन्यु* नाटक में गाती है—

हे हरि, झींझरी नैया पार करो।
सूझ परत, कछु न जुगत तुम ही खिवैया ॥
पाण्डव जय पावें, हरषावें, तेरो गुण गावें।
जय के डंके बाजें, सुख साजें, दुख भाजें ॥

४. *बुद्धदेव नाटक* में कामकला गाती है—

आज मिले तोही सखी कुंजन पिहरवा।
काहे बोलो झूठ बैन, कहे देत तोरे नैन
देखो ना बिथुर रहे मुख पर बरवा······आज मिले।
अँगिया के बंद टूटे, कर से कंगन छूटे
एक एक के चार चार उपटे हैं हरवा—आज मिले···

४. *सिलवर किंग* में शराबी जुआरी गाते हैं—

दे दे आला, भर भर प्याला, पीने वाला हो मतवाला
बादल बरसे काला काला, फूला आँखों में गुल्लाला ॥
कैसा छाया है हरियाला,
हाँ एक्सा नम्बर वन (X-Shaw No. 1) का बहा दे नाला
न रखना बाकी साक़ी तेरा बोलबाला ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ···

क्यों छिपाई ला दे भाई ख़ालिस ह्विस्की (whisky)
रंग हो जिसमें मिस (Miss) की
और लज्जत हो जिसमें किस (kiss) की
हाँ यार, कहाँ तक लाग, उड़ा दे काग, बिछा दे आग।
हाँ दो ही दिन की दुनिया है और दो ही दिन का जीना
दम में जब तक दम है, हरदम इसको पीना॥ बादल...

इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी यही रूप मिलेगा। उर्दू लेखकों ने अधिकतर गजलों का सहारा लिया है जिसके कारण वे गाने इतने बुरे नहीं लगते जितने अन्य लेखकों के।

रंगमंचीय सब नाटकों का आरम्भ कोरस से होता है। यह कोरस भी एक अजीब वस्तु है। वास्तव में यह संस्कृत नान्दी का अनोखा नूतन संस्करण मात्र है। उर्दू लेखक तो इसे कहते ही 'हम्दे खुदा' हैं। कुछ नाटकों के कोरस इस प्रकार हैं—

(१) श्रीहर जगदीश्वर नागर नटवर॥ श्रीहर०
जय जय भूप, हो चमकत रूप, बन्दों श्रीहरि दृष्टि अनूप।
तेरो सब जग रैन दिनन, गुन गाएँ, चाहें चित चरण शरण॥
व्यापक तूँ घर घर सहाय कीजो हलधर॥ श्रीहर०

—*सती अनुसूया या पतिप्रताप* (?), मुंशी जायक साहब

(२) जय गणेश गणनाथ गुणाकर
सकल विघ्न कर दूर हमारे॥ जय०
प्रथम धरे जो ध्यान तिहारो
तिनके पूरण कारज सारे॥ जय०
लम्बोदर गज बदन मनोहर
कर त्रिशूल परशूवर धारे॥ जय०
ऋद्धि सिद्धि दोउ चँवर डुलावें
मूषक-वाहन परम सुखारे॥ जय०

ब्रह्मादिक सुर ध्यावत मन में
ऋषि मुनिगण सब दास तिहारे ॥ जय०

(३) सर्वेश, निक्लेश, यह देश, हाँ,
भारत अस शुभ नाम कहत मुख रहत न दुख लवलेश।
हमारा प्यारा भारत देश ॥
सुख सम्पत्ति सम्पन्न सजीला स्वाभाविक सर्वेश
रमा समेत रमापति रमते गिरजा सहित महेश ॥
सविशेष, अखिलेश, सुख-वेश हाँ,
सुर सुरपुर तरसत सुखमा लखि देती प्रकृति निदेश।
हमारा प्यारा भारत देश ॥

—*मीराबाई* (१९२४), रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल

(४) गंगे तोरी अमृतधार, सुरगण नभ तरसैं।
पाप हरनि मोक्ष वरनि ज्ञानि सुजन परसैं ॥ गंगे० ॥
शीतल सुख कर सुस्वाद कलकल ध्वनि ब्रह्मनाद।
मुक्ति शक्ति तुम अनाद, नमन किए हिय हरषैं ॥ गंगे० ॥

—*श्रीगंगावतरण* (१९२५) द्वि० सं०, श्रीकृष्ण हसरत

(५) हरहर महादेव देव शंकर त्रिपुरारी ॥ हर० ॥
भस्म अंग भुजंग माल, तिलक चन्द्र शोभित भाल।
रुण्ड मुण्ड राजत व्याल, जय पिनाकधारी ॥ हर० ॥
जटा जूट शिर गङ्ग राजे, डमरू डिमि डिम कर विराजे।
अंग अनंग रूप छाजे, जय जय असुरारी ॥ हर० ॥
उदार अंग अति विशाल, वृषभ-वाहन व्याघ्र छाल।
काल काल महाकाल, हर हर भय हारी ॥ हर० ॥
विश्वनाथ विश्वम्भर हर, आदि अनन्त अजर अमर।
चरण सेवत सकल सुर नर, जय जय दैत्य विहारी ॥ हर० ॥

—*पतिभक्ति* (१९२९ द्वि० सं०), विश्वनाथ पोखरे

परन्तु उपरोक्त उदाहरणों एवं अन्य स्थलों को देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यवसायी होने के कारण अपने नाटकों को जनता में अधिक से अधिक लोक-प्रिय करने के लिए भाषा के रूप में अनेक प्रयोग किये गये । इस विषय में इनका अन्तिम निर्णय बेताब के *महाभारत* का यह अंश मानना चाहिए—

"न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी, ज़बान गोया मिली जुली हो।
अलग रहे दूध से न मिसरी, डली डली दूध में घुली हो॥"

क्लिष्ट उर्दू से इस सूत्र पर आने के कारण आगे के नाटककारों का मार्ग अधिक सुगम हो गया यद्यपि इन कम्पनियों के व्यावसायिक रूप ने नाटक-साहित्य में अधिक कलात्मकता न आने दी।

प्रहसन

इन कम्पनियों के नाटकों में एक विचित्रता और भी थी। प्रत्येक नाटक के साथ एक कामिक (प्रहसन) रहता था। पहले पहल इस कामिक का कोई सम्बन्ध मूल कथा से नहीं रहता था। यह एक स्वतंत्र वस्तु थी और इसका मुख्य कारण मूल नाटक के द्वारा दर्शकों में प्रस्तुत किए गए करुणरस अथवा उसी प्रकार के भावों को कुछ शिथिल करने का प्रयास था अथवा एक दृश्य के पश्चात् दूसरे दृश्य को मंच पर जमाने के लिए कुछ समय निकाल लेना था। इस प्रकार एक ही तीर से दो चिड़ियों के मारने की बात हो जाती। दर्शक मण्डली में भाव-परिवर्तन भी हो जाता और मञ्च-मालिक को अपने नये नये दृश्य ठीक करने का समय भी मिल जाता।

कला की दृष्टि से यह कामिक बड़े भद्दे लगते, क्योंकि इन में प्रायः निम्न श्रेणी की बातें होतीं। प्रेमी-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी में पहले जूता-पैजार होती या चुम्बन के झगड़े होते और फिर एक दूसरे का हाथ और कमर पकड़ कर गाते हुए वे मंच से अन्दर चले जाते।

जनता 'वाह' 'वाह' कर उठती और तालियों से सारा मंडल गूँज जाता। वास्तव में कुरुचि के उत्पन्न करने में ये कामिक ही सब से अधिक उत्तरदायी थे और इन्हीं के कारण पारसी रंगमंच की ओर से सभ्य लोग उदासीन हो गए थे।

पं० राधेश्याम तथा आग़ा हश्र ने आगे चलकर कामिक और मूल नाटक में सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर दिया। यहीं से पारसी नाटकों का उद्धार आरम्भ हुआ। 'बेताब' ने कामिक को अलग न रखकर उसे मूल नाटक में ही स्थान दिया। व्यंग्य और हास्य का पुट मूल कथा-वस्तु के साथ साथ पात्रों के संवादों में ही प्राप्त होने लगा। *वीर-अभिमन्यु* में 'राजा बहादुर' तथा हश्र के *सिलवरकिंग* में 'जीटक' और बेताब के *महाभारत* में यह विकास सुगमता से समझ में आ जाता है।

इनकी देन

उपरोक्त नाटक कम्पनियों ने जो कुछ रंगमंच के लिए किया उसमें अधिकतर व्यवसाय की वृत्ति ही निहित थी। एक बार एक हिन्दी के विद्वान ने पारसी कम्पनी के मालिक से उनके नाटकों की आलोचना करते हुए कुछ सुधार करने की चर्चा की। इस पर उन्हें उत्तर मिला— "हम यहाँ रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का ठेका हमने नहीं ले रक्खा। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे।" ये उद्धृत वचन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी या उर्दू रंगमंच का श्रीगणेश कलात्मक विकास और सांस्कृतिक उन्नति के लिए नहीं हुआ। वह हुआ सीधी साधी जनता को मूँडने और उसकी कुरुचि को और भी अधिक दूषित करने के लिए। भाषा, साहित्य, देश और जनता—सब के लिए यह दुर्भाग्य का विषय था कि जिस नाटक-साहित्य की उन्नति से किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक उन्नति की जाँच

पड़ताल की जाती है उसी की नींव में यह दूषित मनोवृत्ति भी काम कर रही थी। इसमें संदेह नहीं कि इन मंडलियों से भारतीय जनता में एक नए आमोद-प्रमोद का जन्म हुआ जो सांगीतवाली परम्परा से अधिक कलात्मक था परन्तु यदि किसी भी प्रकार सुन्दर और सुचारु ढंग से इस का सूत्र पात हो गया होता तो आज का भारत अपनी वर्तमान अवस्था से बहुत कुछ परिवर्तित होता हुआ दिखाई पड़ता और हमारा रंगमंच अपनी कमजोरियों एवं त्रुटियों को दूर करने में बड़ा सहायक तथा सफल साधन बन जाता।

सन् १८८३ ई० में स्व० भारतेन्दु ने इनके प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा था—

"काशी में पारसी नाटकवालों ने नाच-घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे-वालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डा० थिबो, बाबू प्रमदा दास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"[१]

'पारसी थियेटर' शीर्षक देकर सन् १९०३ में भट्ट जी ने एक लेख लिखा था जो टिप्पणी के रूप में था। उसमें लिखते हुए इनके प्रभाव का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :—

'हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों को आशिकी-माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है। क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में आने पावे। इतना पीर पैगम्बर, परी, हूर का ज़हूर कहीं न पाओगे। तीसरे शायस्तगी की

१. नाटक—पृ० ६४

नाक उर्दू का जौहर मुफ्त में दस्तयाब होता है। सच कहो तो यही तीन बड़े-बड़े फाइदे नाटकों के अभिनय के हैं—पहला धर्म सम्बन्धी, समाज सम्बन्धी या राजकीय सम्बन्धी उत्तम उपदेशों का मिलना; दूसरा देश की पुरानी रीति नीति को किसी पुराने इतिहास या घटनाओं का अभिनय कर दरसाना अथवा प्रचलित कुरीति की बुराइयों को दिखाना; तीसरा भाषा का प्रचार। थोड़े से भव्य लोग यही समझ, जब यहाँ कोई जानता भी न था कि नाटक क्या वस्तु है, इसके अभिनय में प्रवृत्त हुए और हिन्दी के कई एक नाटकों का उन्होंने अभिनय कर लोगों को इसका शौक दिलाया। पीछे बम्बई के पारसियों का एक दल बम्बई से चला और वे बड़े-बड़े शहरों में इस ढङ्ग का अभिनय करने लगे। अस्तु, यहाँ तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी किसी तमाशे में पुरानी रीति नीति और हिन्दी का विरोध न था। पीछे दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि कई शहरों के बिगड़े नौजवानों की गिरोह जमा हो, अभिनय को जो सभ्यता का प्रधान अंग था और भलाई के प्रचार तथा सदुपदेश प्राप्त करने का उत्तम द्वार था, इस दुर्गति को पहुँचाय हमारी पुरानी हिन्दुआनी का सत्यानाश कर डाला और नई उभार के तरुण जनों को उनकी नई उमंग के लिए बड़ा सहारा मिल गया। भविष्य में इसका परिणाम यही होने वाला है कि हमारी नई सृष्टि में आर्यता और हिन्दुपन का चिह्न भी न बचा रहेगा। बोल-चाल, रहन-सहन में अर्ध यवन तो हुई हैं अब पूरे आशिकतन यवन बन बैठेंगे।'[1]

इसमें सन्देह नहीं कि पारसी थियेटर के कारण हमारी संस्कृति को बड़ा धक्का पहुँचा और उसके अभिनय में एक प्रकार का ऐसा उथलापन आ गया जिसके दूषित प्रभाव से हम अभी तक उभरने नहीं पाये परन्तु इसके साथ ही यह भी नहीं छिपाया जा सकता कि इन्हीं के कारण हमें हिन्दी में कुछ अच्छे नाटककार मिले। यदि इन

१. हिन्दी-प्रदीप, भाग २५, संख्या ६-१२

कम्पनियों ने उन्हें आश्रय न दिया होता और उनकी प्रतिभा का उपयोग न किया होता तो हमारा हिन्दी साहित्य और भी अधिक असंपूर्ण रहता।

पं० राधेश्याम कथा-वाचक, आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब', कृष्णचन्द 'ज़ेबा', हरिकृष्ण 'जौहर' और तुलसीदत्त 'शैदा' आदि लेखक इन्हीं कम्पनियों की देन हैं। आगे चल कर इन्हीं के प्रभाव से 'व्याकुल' और 'मायल' का जन्म हुआ। अतएव उनके द्वारा प्रचारित बुराइयों को छोड़ हमें उनकी सेवा के लिए आभारी होना चाहिए।

कुछ प्रमुख नाटक-कार

१. आग़ा हश्र काश्मीरी

इनका जन्म अमृतसर में हुआ था परन्तु सपरिवार बनारस में रहते थे और वहीं शाल दुशालों का व्यापार उनके कुटुम्ब की आजीविका का साधन था। परन्तु स्वयं कुशल नाटक-लेखक और अभिनेता थे। सब से प्रथम इनका सम्बन्ध 'न्यू अलफ्रेड' से था और उसके लिए यह उर्दू में नाटक लिखा करते थे। इनके उर्दू नाटकों की संख्या लगभग १६ है जिनमें से कुछ अंगरेजी नाटक-कार शेक्स-पियर के नाटकों के रूपान्तर हैं। *दिल-फ़रोश* (१९००) Merchant of Venice का रूपान्तर है; *शहीदेनाज* (सन् १९०६) Measure for Measure का; *सैदे-हविश* (१९०६) और *सफेद खून* (१९०६) क्रमशः Richard III तथा King Lear के रूपान्तर हैं। रूपान्तरों में लेखक ने मूल को बहुत बदल दिया है। पात्रों के नाम बदलना तो बड़ी बात नहीं परन्तु आगा हश्र ने तो घटनाओं और उनके क्रम एवं साधनों तक में परिवर्तन कर दिया है। *दिल-फरोश* (दिल बेचने वाला)

में कासिम (Bassanio) और उसका बड़ा भाई महमूद दोनों पोरशिया के साथ विवाह करने में प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी मूल से बड़ा अन्तर है।

आगा हश्र ने निम्नलिखित नाटक हिन्दी में लिखे—*सूरदास, गंगा औतरण, बनदेवी, सीता बनवास, मधुर-मुरली, श्रवणकुमार, धर्मी बालक या गरीब की दुनिया, भीष्म-प्रतिज्ञा और आँख का नशा।* इन नाटकों के रचना अथवा प्रकाशन समय की निश्चितता होना असंभव है। इसके दो कारण हैं—नाटक लिखे जाने पर पहले रंगमंच पर खेला जाता था। अतएव उसके प्रकाशन का काल रचना-काल से भिन्न हो जाता था। दूसरा कारण यह है कि कम्पनियाँ अपने नाटकों को तभी प्रकाशित करती थीं जब उनसे पहले समुचित धन कमा लेती थीं। ऐसी अवस्था में रचना-क्रम-काल को दृष्टि से कोई खोज करना तब तक संभव नहीं जब तक नाटकों के खेले जाने के समय की सही जानकारी न हो। कुछ भी हो हश्र ने उर्दू की तरह हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की। *आँख का नशा* देखकर एक बार पं० जनार्दन भट्ट कलकत्ता में हश्र से मिलने गए। भट्ट जी का कहना है:—

"लुंगी बाँधे, नंगे बदन एक मियाँ दिखलाई पड़े जो रङ्ग के गोरे, शरीर के सुडौल थे। चेहरे की मस्ती, बदन की गठन और सारे अंगों की फड़कन देखकर मालूम होता था कि कोई मस्त हाथी झूम रहा है। आँखों से ज्योति निकल रही थी—एक से कम दूसरी से ज़्यादा। मैंने जाते ही पूछा 'क्या आप ही का नाम आगा मोहम्मद हश्र काश्मीरी है?' विस्मित हो रुखाई से उत्तर दिया जैसे कोई तकाज़गीर को देखकर घबड़ा जाय और उसको टरकाना चाहे। पर जब उनको मेरे आने का अभिप्राय समझ में आया तो जी खोल कर मिले। उर्दू लिपि में लिखा स्वरचित नाटक सुनाने लगे.........।" इन्होंने सब मिलाकर हिन्दी के १० नाटक लिखे हैं।

हश्र की भाषा में बड़ी शक्ति है और साथ ही धारा-वाहिकता

भी। उनके पात्र साधारण जीवन के होते हुए भी आदर्श की सीमा को पहुँच जाते हैं। पतनोन्मुखी और उत्थानोन्मुखी का विरोध उनके चरित्र-चित्रण की साधारण शैली है। अपनी रंगीन लेखनी से वह ऐसी घटनाओं और चरित्रों का निर्माण करते हैं जिनमें अनुभव की तीव्रता और मानवी भावनाओं की कोमलता एवं कठोरता दोनों का समावेश हो जाता है। ऐसे दृश्यों को देखकर दर्शक-मंडली का हृदय अपने तनाव की उच्च सीमा पर पहुँच कर करुणा से विभोर हो उठता है। अपराधियों के अत्याचारों और कुकर्मियों के कार्य-व्यापार में भी यही गहरापन दिखाई देता है। वे अपने अपने वर्ग के अन्तिम प्रतिनिधि से जान पड़ते हैं। कुछ हद तक हश्र की यह चित्रणकला दूषित भी कही जा सकती है क्योंकि दर्शकों की उत्सुकता और सहनशीलता को इस सीमा तक पहुँचा देना उचित नहीं समझा गया है।

हश्र का एक दोष और भी है। मूल कथानक में एक अन्य कथानक को जोड़कर वह सारे नाटकीय प्रभाव पर पानी फेर देते हैं तथा कहीं कहीं उनका शिथिल हास्य बड़ा भोंडा मालूम पड़ने लगता है।

अन्यथा हश्र के नाटक बहुत उत्तम हैं।

२. पं० राधेश्याम

पंडित जी बरेली के निवासी हैं (१८९०—वर्तमान) और *रामायण* लिखकर उसकी कथा बाँचने के कारण भारतवर्ष भर में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इसी कारण उन्हें 'कथा-वाचक' के नाम से लोग अधिक जानते हैं। *रामायण* के जोड़ का उन्होंने *'कृष्णायन'* भी लिखा है जिसमें श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित है। परन्तु उनकी प्रसिद्धि के लिए उनके हिन्दी नाटक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पंडित जी ने अनेकों नाटकों की रचना की है। उनका सब

से पहला नाटक *'वीर-अभिमन्यु'* है जो बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के लिए लिखा गया था। यद्यपि जैसा नाम से प्रगट होता है इस नाटक का अन्त अभिमन्यु की चक्र-व्यूह में मृत्यु पर हो जाना चाहिए था परन्तु लेखक ने उसे जयद्रथ-वध पर समाप्त किया है। उनका विश्वास है कि अभिमन्यु के चरित्र का पूर्ण-विकास और उसका महत्त्व अर्जुन की प्रतिज्ञा-पूर्ति के पश्चात् ही प्रकट होता है। यह नाटक सन १९१४ में लिखा गया और उसी साल कम्पनी में अभिनीत होकर खूब लोक-प्रिय हुआ। पारसी रङ्गमञ्च पर अभिनीत होने वाले हिन्दी के नाटकों में यह सब से पहला नाटक था। अतएव उक्त मञ्च पर हिन्दी को सांगोपांग प्रवेश कराने का श्रेय पं० राधेश्याम जी ही को मिलना चाहिए।

कलात्मक दृष्टि से भी यह नाटक अच्छा है। यद्यपि बात बात में इसमें पद्यमय भाषा का प्रयोग है परन्तु इस परम्परा से हटना संभवतः उस समय क्या अभी तक भी नाटककारों के लिए सहज नहीं हो सका है।

वीर-अभिमन्यु (र० का० १९१४ के लगभग) के अतिरिक्त पं० राधेश्याम जी ने और भी नाटक लिखे—*परिवर्तन* (१९२५); *मशरिकी हूर* (१९२६); *श्रीकृष्णावतार* (१९२६); *रुक्मणी मंगल* (१९२७); श्रवण कुमार (१९२८); *ईश्वर-भक्ति* (१९२९); *द्रौपदी स्वयंवर* (१९२९); *परम भक्त प्रह्लाद* (१९२९ द्वितीय संस्करण)। ये सब नाटक 'न्यू अल्फ्रेड' के लिए ही लिखे गए थे और उसी के रंगमंच से जनता के सामने आये। सन् १९२९ में पं० मोतीलाल नेहरू ने देहली में *'ईश्वर-भक्ति'* के अभिनय दिवस का उद्घाटन अपने हाथों किया था। इनके अतिरिक्त सन् १९२८ में *'ऊषा-अनिरुद्ध'* काठियावाड़ की श्री सूर-विजय कम्पनी के लिए लिखा गया और सन् १९३२ में *महर्षि वाल्मीकि* एवं *शकुन्तला* कलकत्ते की करंथियन थियेट्रिकल कम्पनी में अभिनीत

हुए। पंडित जी का अभी तक अन्तिम नाटक *सती पार्वती* है जो सन् १९४४ में ग्रेट शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी के लिए लिखा गया।

राधेश्याम जी ने तीन एकांकी नाटकों की भी रचना की है—*कृष्ण-सुदामा*, *शान्ति के दूत भगवान श्रीकृष्ण* और *सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण*।

पंडित जी के नाटकों का विषय प्रायः पौराणिक एवं महाभारत के आख्यान हैं। उन्होंने थियेट्रिकल कम्पनियों में गन्दे, अश्लील, शिक्षा-हीन और आदर्श शून्य नाटकों की प्रधानता देखकर ही अपनी लेखनी को कष्ट दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त भारतीय संस्कृति की पुरानी प्रतिभा के प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य पात्र मिलने कठिन थे। अतएव उन्हीं के चरित्र और जीवन-घटनाओं को नाटक-बद्ध करने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने अथक परिश्रम से पंडित जी सद्भाव-पूर्ण धार्मिक शिक्षा समन्वित, सुरुचि-वर्धक एवं आदर्श-स्थापक नाटकों को रङ्गमञ्च पर लाने में सफल हुए हैं। उनके नाटकों में यद्यपि पारसी रङ्गमञ्च की भद्दी भूलें हैं—रोना और गाना भी साथ साथ है, दृश्य चमत्कार की कमी नहीं और अति अमानवीय शक्ति का प्रभाव तो प्रत्येक नाटक में विद्यमान है—परन्तु फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि अनेक विरोधी परिस्थितियों से होते हुए भी उन्होंने रंगमंच पर हिन्दी भाषा का प्रवेश कराया और दर्शक-मंडली में सुरुचि-प्रसार का सतत उद्योग किया।

उनके नाटक हिंदी रंगमंचीय नाटक साहित्य की अमूल्य निधियां हैं।

१. नारायणप्रसाद 'बेताब'

देहली के रहने वाले काश्मीरी ब्राह्मण हैं। इनकी मुख्य रचनायें उर्दू में हैं और उन्हीं के द्वारा इनकी ख्याति हुई। सबसे पहले बम्बई

की पारसी कम्पनियों में रहकर इन्होंने नाटक लिखे। *गोरख-धन्धा* (१६१२) इनका पहला नाटक है। यह शेक्सपियर के The Comedy of Errors के आधार पर लिखा गया है परन्तु जैसे हश्र और अन्य लेखकों ने किया है, बेताब ने भी अपने नाटक में मूल से अनेक परिवर्तन कर दिए हैं। पहले पहल यह नाटक उर्दू में ही लिखा गया था परन्तु बाद में इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित हो गया।

बेताब के अन्य नाटकों में *महाभारत, ज़हरी साँप, रामायण, पति प्रताप* और *कृष्ण-सुदामा* प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा न हिन्दी है और न उर्दू ; एक विशेष प्रकार की खिचड़ी है जिसे आजकल के शब्दों में 'हिन्दुस्तानी' कहना अधिक उचित है। नाटकों के दृश्यों में चमत्कार का ध्यान अच्छी तरह रखा गया है। *पति-प्रताप* में कुमार्गी पति पर सती पत्नी के बलिदान का प्रभाव दिखाकर उसे सन्मार्ग पर लाया गया है।

कला की दृष्टि से नाटकों को उच्च स्थान नहीं दिया जा जकता। परन्तु जनता में लोक-प्रियता के हिसाब से बेताब किसी भी प्रकार अन्य समकालीन नाटककारों से कम नहीं।

अन्य नाटककार

किशनचन्द 'ज़ेबा', तुलसी दत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर' तथा श्रीकृष्ण 'हसरत' आदि अन्य नाटककारों ने भी कुछ रंगमंचीय नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों का सम्बन्ध उर्दू से बहुत अधिक है हिन्दी से कम। परन्तु जिस प्रकार हश्र को उर्दू और हिन्दी दोनों प्रकार के नाटककारों में रखा जा सकता है उसी प्रकार इन लेखकों की गणना भी हिन्दी में गौरव के साथ की जा सकती है। परन्तु इन सब लेखकों के विषय में अन्तिम निर्णय करने के समय एक बाधा उत्पन्न हो जाती है। प्रश्न यह है कि इन लेखकों ने मौलिक नाटक पहले उर्दू में लिखे और फिर उनका हिन्दी अनुवाद हुआ अथवा वे लिखे ही हिन्दी में गए

क्योंकि नाटकों के दोनों रूप वर्तमान हैं। वास्तव में यही कठिनाई इनके पूर्व लेखकों के विषय में भी उत्पन्न होती है।

कुछ भी हो इन्होंने रंगमंचीय नाटक साहित्य की वृद्धि ही की है।

(आ) अव्यवसायी कम्पनियाँ

इनके दो रूप हैं। कुछ तो वे मण्डलियाँ हैं जिन्होंने नाटक का अभिनय इसलिए भी किया कि नाटक साहित्य का प्रचार हो और उनके खर्चे का काम भी चल जावे और इसलिए भी कि आमदनी का पैसा किसी सुकार्य में लगा दिया जाय। दूसरे प्रकार की मण्डलियाँ वे हैं जो प्रायः प्रत्येक विश्व-विद्यालय और स्कूल आदि में पाई जाती हैं। उनका उद्देश्य प्रायः मनोविनोद हुआ करता है और नाटकों का अभिनय किसी विशेष उत्सव के ऊपर किया जाता है। इसमें भाग लेने वाले अवैतनिक और अव्यवसायी छात्रगण होते हैं। इन दोनों ने ही रंगमं' और तत्सम्बन्धी नाटक साहित्य में योग दिया है।

हाँ, पूर्वोक्त व्यवसायी कम्पनियों के विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का रंगमंच केवल उन्हीं तक सीमित था और उर्दू वालों के अतिरिक्त उस समय में हिन्दी भाषाभाषियों ने अपने साहित्य के प्रसार के लिए कोई उद्योग नहीं किया।

युक्त प्रान्त में हिन्दी के इस काल के मुख्य केन्द्र काशी, प्रयाग और कानपुर थे। भारतेन्दु और उनके समकालीन एवं परवर्ती नाटककारों का क्रिया-क्षेत्र भी यही भूभाग था। अतएव सब से प्राचीन हिन्दी नाटक-मंडलियों की स्थापना और उनके द्वारा अभिनय का आरंभ भी यहीं हुआ। पं० शीतलाप्रसाद का *जानकी-मंगल* इस प्रकार का पहला हिन्दी नाटक था जिसका उल्लेख भारतेन्दु ने किया है। अन्य नाटकों के विषय में दूसरा उल्लेख पं० प्रतापनारायण मिश्र

(सन् १८८८) का है। इस विषय पर उनकी टिप्पणी यह है—

"*कानपुर और नाटक* :—अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहाँ के हिन्दुस्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत पंडितवर रामनायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य का बनाया हुआ *सत्य हरिश्चन्द्र* और *वैदिकी हिंसा* खेला था। यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक अभिनय के मूलारोपक यही प्रभाकर जी हैं। और श्रीयुत बाबू बिहारीलाल जी परोपकारी इनके बड़े भारी सहायक हैं। यद्यपि द्वेषियों ने बहुत सिर उठाया और लज्जा के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि इस पत्र का सम्पादक भी इन्हीं में से था, पर उस देशाभिमान रूपी आकाश के प्रभाकर ने परम धीरता के साथ अपना संकल्प न छोड़ा। रामाभिषेकादि कई बड़े-बड़े अभिनय ऐसी उत्तमता से किए कि किसी से अद्यापि हुए नहीं। पर जब त्रिपाठी महाशय उद्यम-वशतः गोरखपुर चले गए तब से कई वर्ष तक इस विषय में सूनसान रही। केवल *अंधेर नगरी* खेली गई थी। फिर लोगों के अनुत्साह से कई वर्ष कुछ न हुआ। हाँ ८५ के सन् में *भारत दुर्दशा* खेली गई और भारत Entertainment क्लब स्थापित हुआ जिसके उद्योग से दो बेर *अंजामे बदी नाटक* (फारसी वालों के ढंग का नाटका-भास) खेला गया। कुछ आशा की गई थी कि कुछ चल निकलेंगे पर थोड़े ही दिन में मेम्बरों के परस्पर फूट जाने से दो क्लब हो गए। फूटी हुई शाखा M. A. क्लब के नाम से प्रसिद्ध है। और पहिली का नाम दो एक हिन्दी रसिकों के उत्साह से श्री भारत-रंजनी सभा हो गया है। इसका वृत्तान्त पाठक गण उसके नाम से और प्रतापमिश्र की शराकत से समझ सकते हैं। सिवा इसके श्री बाबू पप्पनलाल प्रेसीडेंट और बाबू राधेलाल मैनेजर भी उत्साही पुरुष हैं। इन दोनों सभाओं की देखा-देखी कई क्लब और भी खड़े हुए पर कई उगते ही ठिठुर गए। जागे भी तो इतना मात्र कि फारसियों की शिष्यता की इतिकर्तव्यता समझ के ! सो भी न कर

सके।..

....

....

वर्ष भर से एक A. B. Club और हुवा है जिसने कई बेर उलट फेर खाये पर अंत में एक परमोत्साही पुरुष रत्न की शरण ले के रक्षित रहा। ६ अगस्त को इस क्लब ने अभिनय किया पर हम यह मुक्त कंठ से कहेंगे कि यदि हमारे प्रिय मित्र श्री भैरवदास वर्मा तन, मन, धन से बद्ध-परिकर न होते तो यह दिन कठिन था। नाटक पहिले-पहल था और भाषा भी उरदू थी पर पात्र गण चतुर थे इससे अभिनय सराहने योग्य था इसमें शक नहीं। M. A. Club के कई सभासद नाराज हो के उठ गए यह अयोग्य किया और बहुत से अशिक्षित जन कोलाहल की लत भी दिखाते हे पर हमारे कोटपाल श्री अली हुसेन साहब के परिश्रम और प्रबन्ध से शान्ति रही। सदमए-इश्क और गोरक्षा निर्विघ्न खेला गया। सुनते हैं कि इस क्लब में उत्तमोत्तम नागरी के नाटक भी खेले जाया करेंगे। परमेश्वर इस किंवदन्ती को सत्य करे।...”[1]

इस विवरण से केवल इतना ही पता चलता है कि कानपुर में उद्योग हुआ परन्तु स्थायी रूप से कुछ न पाया।

मण्डलियों की स्थापना की दृष्टि से सबसे पहली मण्डली प्रयाग में स्थापित हुई। इस नाटक मण्डली का सर्व प्रथम नाम श्रीरामलीला नाटक-मण्डली था क्योंकि रामलीला के अवसर पर ही नाटक खेलने की दृष्टि से इसका श्री गणेश हुआ था। पं० माधव शुक्ल, पं० बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय सुपुत्र पं० महादेव भट्ट एवं अलमोड़ा निवासी पं० गोपालदत्त त्रिपाठी के उद्योग से सन् १८९८ ई० में इसका जन्म हुआ। प्रयाग के उत्साही युवकों की यह त्रिमूर्ति राष्ट्रीय जागृति से

---

१. ब्राह्मण, भाग ५, संख्या १, पृ० ३-४, १५ अगस्त १८८८

अनभिज्ञ नहीं थी। अतएव इस मंडली ने अपना उद्देश्य बनाया 'रामलीला के प्रसंग में वर्तमान राजनीति की भी आलोचना करना।' सब से पहला नाटक *सीय-स्वंयवर* अभिनीत किया गया। इस के लेखक पं० माधव शुक्ल ही थे। नाटक खेला जा रहा था। दर्शक-मण्डली में पं० मदनमोहन मालवीय भी सम्मिलित थे। पंडित जी उस समय तक माडरेट थे। धनुष-भंग के प्रसंग में राजाओं की असफलता पर राजा जनक ने जो बात कही उसके साथ-साथ उनके मुख से एक कविता भी कहला दी गई (संभवतः यह पारसी रंगमंच का ही प्रभाव था) जिसका आशय कुछ इस प्रकार था—'ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके—यह अत्यन्त दुख का विषय है हाय !'

मालवीय जी इस उक्ति को सहन न कर सके और उसी सीन पर ड्राप डलवा दिया गया। परन्तु उत्साही त्रिमूर्ति ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी। सन् १९०७ तक यह मंडली चलती रही और यदा-कदा नाटकों का अभिनय कर लेती।

परन्तु सन् १९०७ में आपस में कुछ मन मुटाव हो गया। मंडली छिन्न-भिन्न हो गई। परन्तु सन् १९०८ में माधव शुक्ल ने फिर से इसका संगठन किया। अब की बार इसका नाम 'हिन्दी नाट्य समिति' रखा गया। स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट, स्व० प्रधानचन्द्र प्रसाद, बा० भोलानाथ, बा० मुद्रिका प्रसाद, पं० लक्ष्मीनारायण नागर और मैत्रेय बाबू ने विशेष रूप से इसमें सहयोग दिया। बा० पुरुषोत्तमदास टंडन, पं० सत्यानन्द जोशी, पं० मुरलीधर मिश्र और स्व० 'प्रेमघन' जी के पुत्र भी इसमें सम्मिलित हो गए।

इस प्रकार नवीन व्यवस्थित समिति में बा० राधाकृष्ण दास जी कृत *महाराणा प्रताप* खेलने का निश्चय हुआ। बाबू साहब उस समय जीवित थे। और यद्यपि रोगग्रस्त थे परन्तु फिर भी प्रयाग के निमंत्रण

पर नाटक देखने के लिए आये और उन्हीं की उपस्थिति में *महाराणा प्रताप* अभिनीत हुआ। उस समय प्रताप (शुक्ल जी), भामाशाह (मिर्जापुर निवासी श्री प्रथम नाथ बी० ए०), मालती (बा० देवेन्द्रनाथ बनर्जी), गुलाबसिंह (पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट) और कविराज का अभिनय पं० महादेव भट्ट ने किया था। नाटक बड़ा सफल रहा विशेष रूप से उसका प्रहसन जिसमें एक मशायरा हुआ। मिसरा तरह था—

'नहूसत का कौवा उड़ा चाहता है।'

महादेव भट्ट अपने इस अभिनय में भी बहुत अधिक सफल रहे। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन पर जो प्रयाग में स्व० डा० श्यामसुन्दर दास की अध्यक्षता में सन् १९१५ में हुआ था पं० माधव शुक्ल प्रणीत *महाभारत (पूर्वार्ध)* नाट्य समिति द्वारा अभिनीत हुआ। इस बार शुक्ल जी ने भीम, महादेव भट्ट ने धृतराष्ट्र, रासबिहारी शुक्ल ने दुर्योधन, बाबू प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य ने युधिष्ठिर, लक्ष्मीकान्त भट्ट ने शकुनि, बा० पुरुषोत्तम नारायण चड्ढा ने अर्जुन, रामनारायण सूरि ने संजय, वेणी शुक्ल ने विदुर और देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने द्रौपदी का पार्ट किया था। आरा के प्रतिनिधि और हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बा० शिवपूजन सहाय ने लिखा है— "प्रत्यक्षदर्शी के नाते मैं ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि आज तक मैंने किसी हिन्दी रंगमंच पर वैसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।"† अभिनेताओं के सम्बन्ध में बाबू जी का कहना है

"यदि मैं बलपूर्वक इतना कह सकता हूँ कि पं० माधव शुक्ल जैसा 'भीम' और पं० महादेव भट्ट जैसा 'धृतराष्ट्र' आज तक मैंने किसी रंगमंच पर नहीं देखा है तो मैं यह भी ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि पं० रासबिहारी शुक्ल जैसा 'दुर्योधन' भी मैंने कहीं नहीं देखा है।"†

---

† माधुरी वर्ष ८, खण्ड १, पृ० ८५३

बाबूसाहब की इस प्रशंसा से अच्छा प्रमाण-पत्र समिति की अभिनय सफलता का और क्या हो सकता है ?

दूसरी मंडली काशी की 'नागरी-नाट्य-कला प्रवर्तन मंडली' थी। सन् १९०९ में इसकी स्थापना हुई थी। भारतेन्दु के घराने के स्व० बा० बृजचन्द जी, साहु घराने के श्री कृष्णदास जी तथा काशी के प्रसिद्ध अभिनेता श्री हरिदास जी माणिक इसके संस्थापकों में से थे। कुछ दिनों बाद इसके भी दो भाग हो गए। एक का नाम भारतेन्दु नाटक मंडली पड़ा और दूसरे का काशी नागरी-नाटक-मंडली।

आरंभ में इस मण्डली को बड़े बड़े धनी राजों और महाराजों का सहयोग प्राप्त था और उन्होंने बड़ी उदारता से इस की धन से सहायता की थी। २७ जुलाई सन् १९०९ को इसमें पहला नाटक खेला गया। इसका पूरा विवरण प्राप्त नहीं है परन्तु था वह कोई भारतेन्दु का ही लिखा हुआ। उस समय प्रधान अभिनेताओं में श्री हरिदास माणिक और श्री धर्मदत्त गुर्जर थे। उसके पश्चात् २७ नवम्बर सन् १८८९ को *महाराणा प्रताप* का अभिनय हुआ। दर्शक-मंडली में काशी-नरेश, गिद्धौर-नरेश, मझौली-नरेश, राजा मुंशी माधोलाल जी, राजा मोतीचंद एवं राजा साहब बस्ती भी उपस्थित थे। ७ वीं जून १९१२ को काशी-नरेश के राज्याधिकार प्राप्त करने पर *युधिष्ठिर अथवा पांडव-प्रताप* का अभिनय हुआ। काशी विश्व-विद्यालय के लिए आए हुए प्रतिनिधि-मंडल के आने पर *महाराणा प्रताप* फिर से अभिनीत हुआ। युक्तप्रान्त में बाढ़ आने पर पीड़ितों की सहायतार्थ ९ जनवरी सन् १९२६ को *'अत्याचार'* का अभिनय किया गया। और तत्पश्चात् समय समय पर क्रमशः *सम्राट अशोक, महाभारत, भीष्म-पितामह, वीर बालक अभिमन्यु, भक्त सूरदास, बिल्व मंगल, संसार स्वप्न, कलियुग, पाप-परिणाम* एवं *अत्याचार* आदि रंगमंच पर खेले गए। मंडली के सफल पात्रों की कला के विषय में निम्न प्रमाण पर्याप्त हैं:—

१"······तीन दिन खासी भीड़ रही और अभिनय बहुत लंबा होने पर भी दर्शक अन्त तक उत्सुक दृष्टि से देखते रहे। अभिमन्यु का पार्ट मंगलीप्रसाद और जयद्रथ का बनारसीदास ने बहुत अच्छा किया। सबसे अधिक सफलता बा० आनन्दप्रसाद कपूर को अर्जुन का पार्ट करने में हुई। उनकी अभिनय कुशलता देखकर दर्शक-मंडली मुग्ध-हो गई।"[1]

२. "मंडली दिन प्रति दिन उन्नति कर रही है। प्रत्येक पात्र ने अपना अपना पार्ट उत्तमता से दिखलाया। कितने ही पात्रों को दर्शकों और रईसों की ओर से स्वर्ण और रौप्य पदक दिए गए। बा० आनन्दप्रसाद जी ने अर्जुन का पार्ट बहुत ही उत्तमता से दिखलाया। एक विशेषता और थी कि जितने पात्र स्टेज पर आए सब स्वदेशी वस्त्र में थे। किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र नहीं दिखलाई पड़ा।[2]

इस काशी नागरी-नाटक मण्डली के अभिनेताओं में उल्लेखनीय हैं श्री पं० राधाशङ्कर व्यास, पं० काशीनाथ (बच्चू जी), बा० दुर्गाप्रसाद शास्त्री, बा० श्यामसुन्दर दास, बा० हरिदास माणिक, बा० आनन्द प्रसाद कपूर, बा० बनारसीदास खन्ना, बा० ठाकुरदास बी०-ए०, एल-एल०-बी०, रलियाराम, पं० मंगलीप्रसाद अवस्थी, पं० श्रीकृष्ण शुक्ल, पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री और पं० विशेश्वरनाथ बी० ए०।

तीसरी नाटक मंडली श्री भारतेन्दु नाटक-मंडली (काशी) थी। जैसा कहा जा चुका है, यह मण्डली काशी-नागरी-नाटक मण्डली की ही साथी संस्था थी। इसकी स्थापना सन् १९०८ ई० में भारतेन्दु के भतीजे कृष्णचन्द्र और ब्रजचन्द्र द्वारा हुई। इसके विषय में कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं। इतना पता चलता है कि इसमें राधाकृष्ण दास जी के *महाराणा प्रताप*, भारतेन्दु के *सत्य-हरिश्चन्द्र* और श्री गोविन्द

१—दैनिक 'आज' २-२-१९२२

२—'भारत-जीवन' ६-२-१९२२

शास्त्री दुग्वेकर के *सुभद्रा-हरण* का अभिनय हुआ था। इसके अभिनेताओं में प्रमुख व्यक्ति थे श्री गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर, विद्यानाथ सुकुल, बालकृष्ण दास (राधाकृष्ण दास के सुपुत्र); डा० वीरेन्द्रनाथ दास, मनोहर दास सोनी, भगवतीप्रसाद मिश्र बी० ए०, महेन्द्र लाल मेंड़, कुँवर कृष्ण कौल एम० ए०, केशव राय टंडन, ब्रजरत्न दास बी० ए० एल-एल० बी०, वीरेश्वर बनर्जी एम-एस० सी० और पं० रामचन्द्र मिश्र बी० ए०, एल० टी०।

चौथी नाटक मण्डली कलकत्ते की हिन्दी नाट्य परिषद थी जिसकी स्थापना प्रयाग के पं० माधव शुक्ल द्वारा हुई। नाट्य परिषद् ने भी अनेक नाटक खेल कर ख्याति प्राप्त की। इसके अभिनेताओं में शुक्ल जी के अतिरिक्त उनके पुत्र विजयकृष्ण, ईश्वरीप्रसाद भाटिया, भोलानाथ बर्मन, अर्जुनसिंह, परमेष्ठीदास जैन, देवदत्त मिश्र, श्री बच्चू बाबू, श्री कृष्ण पांडे, केशवप्रसाद खत्री एवं अंबाशंकर नागर प्रमुख हैं।

उपरोक्त नाटक मण्डलियों के अतिरिक्त हिन्दी रंगमंच का अस्थायी रूप और भी है जिसे विद्यार्थी-रंगमंच कहा जा सकता है। आज कल भी प्रायः यह सभी कालेजों, विश्व विद्यालयों और कुछ प्रमुख स्कूलों में पाया जाता है। किसी विशेष उत्सव पर विद्यार्थी अपनी अपनी संस्थाओं में नाटक खेलते हैं। यद्यपि इस संस्था के साधन बड़े परिमित होते हैं परन्तु फिर भी नाटक की परम्पराओं को सुरक्षित रखने में इन्होंने बड़ी सहायता दी है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रावास हिन्दू बोर्डिंग हाउस द्वारा प्रत्येक उपाधि-वितरण के अवसर पर नाटक खेलने का उपक्रम हुआ करता था। वर्तमान युद्ध की कठिनाइयों के कारण उसमें कुछ विघ्न हो गया; अन्यथा यह सत्य है कि इस अव्यावसायिक नाटक को देखने के लिए प्रयाग की जनता उमड़ पड़ती थी। उक्त छात्रावास के रंगमंच से द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हो चुका है।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानंदन पंत भी स्त्री-वेश में इस मञ्च पर आ चुके हैं। विश्वविद्यालय के मिलिटरी साइंस विभाग के पं० श्री गोविन्द तिवारी एम-एस० सी० तथा अँगरेज़ी विभाग के मि० केवल-कृष्ण मेहरोत्रा एम० ए०, बी० लिट् (आक्सफोर्ड) अपने समय के सफल अभिनेता थे। मेहरोत्रा बाबू स्त्री पार्ट के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर ये संस्थायें वर्तमान हैं और आमोद-प्रमोद वश हिन्दी नाटक-साहित्य की सेवा में संलग्न हैं।

इनका नाट्य-विधान

इन मण्डलियों और पारसी कम्पनियों के नाट्य-विधान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों कथा-वस्तु की चरम-सीमा पर प्रायः एक ही प्रकार से पहुँचते हैं। विषय की दृष्टि से अवश्य हिन्दी वालों ने पौराणिक विषयों को अधिक अपनाया है। देश-प्रेम वाली भावनाओं और विचारधारा का समुचित उपयोग इन नाटकों में मिलता है। चरित्रों में अधिक गंभीरता है और हास्य में भी सुरुचि का ध्यान रखा गया है यद्यपि वह बहुत उत्कृष्ट नहीं हो सका है। गीतिकाव्य में पारसी कम्पनियों के नाटकों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट कविता है। उर्दू की गज़लों पर इन लेखकों का पूरा अधिकार है।

इनकी देन

इन मण्डलियों की सब से बड़ी देन सुरुचि का प्रसार और हिन्दी भाषा का विकास है। अपने नेताओं का सन्देश जनता के हृदय तक पहुँचाने में इन्होंने बड़ा योग दिया है। इनका वातावरण सर्वथा मौलिक है और उर्दू के उस रूप से भिन्न है जिसमें अँगरेज़ी के मिश्रण के कारण कृत्रिमता की झलक स्पष्ट विद्यमान है। यदि आगे चलकर सिनेमा ने इतना प्रभाव न दिखाया होता तो इन नाटकों द्वारा सुन्दर साहित्य का कलात्मक निर्माण अवश्य ही होता इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार

रंगमंचीय नाटकों की मूल-प्रेरणा अमानत की *इन्दर सभा* और उन पारसी कम्पनियों के नाटकों से मिली जिनका वातावरण मुसलमान लेखकों द्वारा निर्मित हुआ था। इन नाटकों में वस्तु-वैचित्र्य की अपेक्षा बाहरी सजावट और दिखावट की प्रधानता थी। दो विरोधी भावों को पराकाष्ठा तक ले जाकर और इस प्रकार दर्शक-मण्डली की हृत्तंत्री का पूर्ण प्रसार कर, सत्य की असत्य पर विजय दिखा देना चरित्र-चित्रण का एक मात्र उद्देश्य था। भाषा कृत्रिम उर्दू थी जिसमें स्थान स्थान पर पद्य का प्रयोग होता था और गज़लें गाई जाती थीं। इन नाटकों का परिहास निम्न श्रेणी का होता था और अशिक्षित जनता को ही प्रिय होता था।

हिन्दी में लिखने वाले इसी बपौती को लेकर चले परन्तु उन्होंने अपने नाट्य-विधान में पूर्वजों का अनुकरण करते हुए भी सुरुचि और गंभीरता की रक्षा की। साहित्य एवं रंगमंचीय नाटक की आवश्यकताओं को यथाशक्ति एक ही स्थान पर लाने का उद्योग किया। इस प्रयास में पं० माखनलाल चतुर्वेदी का *कृष्णार्जुन युद्ध* (१९१८), दुर्गाप्रसाद गुप्त का *श्रीमती मंजरी* (र० का० ?), जमनादास मेहरा का *जवानी की भूल* (१९२२) आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

रंगमंचीय नाटककारों ने समाज और देश की आवश्यकताओं को भी सदा अपने सामने रखा। यही कारण है कि इस काल में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक आदि सभी समस्याओं को छूनेवाले नाटकों का जन्म हुआ। राजनीतिक जागृति—हिन्दू मुसलिम एकता, हरिजन उद्धार—का प्रतिबिम्ब अनेक नाटकों में मिल जाता है।

कलात्मक दृष्टि से इनमें से अधिकांश मध्यम कोटि के नाटक हैं परन्तु यह तो निर्विवाद है कि इन नाटकों ने आगे के लिए एक

उपयुक्त क्षेत्र बना दिया; बीज-वपन के लिए ऊबड़ खाबड़ भूमि को उर्वरा बना देना भी कोई कम श्लाघनीय कार्य नहीं है। अतएव जन-मत बनाने में इन नाटकों और नाटककारों को उपेक्षणीय नहीं समझा जा सकता।

एक बात और उल्लेखनीय है। उर्दू नाटकों पर अँगरेजी साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन लेखकों ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु और प्रेरणा भी प्रायः अँगरेजी से ली परन्तु हिन्दी में इस प्रकार का प्रयास नहीं किया गया। अँगरेजी के किसी ऐसे नाटक का अनुवाद भी नहीं हुआ जो रंगमंच पर खेला गया हो। काशी नागरी नाटक मंडली का *किंग लियर* केवल एक मात्र अपवाद है। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के नाटकों का ला० सीताराम द्वारा अनुवाद केवल साहित्य के कलेवर को सजाने के ही काम में लाया गया। उसका प्रवेश हिन्दी रंगमंच पर नहीं हुआ।

सांगीतवाली परम्परा रंगमंच के साथ साथ चलती रही। हाथरस और मेरठ की संगीत मण्डलियों ने इस ओर अच्छा नाम पाया और साधारण अशिक्षित जनता में धार्मिक प्रवृत्ति वाली रास-लीला एवं राम-लीला के अतिरिक्त सांगीत हिन्दू और मुसलमान दोनों में लोक प्रिय रहा।

कुछ प्रमुख नाटककार

पं० माधव शुक्ल

यद्यपि इन्होंने केवल दो नाटक लिखे—*सीय स्वयंवर* (सन् १८९८) और *महाभारत पूर्वार्ध* (सन् १९१६) परन्तु नाटक-साहित्य की उन्नति के लिए इन्होंने बड़ा प्रयास किया। *सीय-स्वयंवर* छपा नहीं परन्तु महाभारत के कारण इनकी पर्याप्त ख्याति हुई।

इनका कार्य-क्षेत्र केवल प्रयाग तक ही सीमित नहीं था। लख-

नऊ, जौनपुर और कलकत्ते में जा कर इन्होंने नाटक मंडलियों की स्थापना की परन्तु यह मण्डलियाँ किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकीं। केवल कलकत्ते की नाट्य-परिषद ने अवश्य नाटक साहित्य और कला के प्रसार में अच्छा हाथ बटाया। कलकत्ता-निवासियों को हिन्दी-नाटकों की ओर आकर्षित करने का बहुत बड़ा कार्य इस परिषद् ने किया। इसी परिषद् की स्थापित परपम्रायें अभी तक भी नाटक साहित्य और कला को कलकत्ते में जीवन दान दे रही हैं।

आनन्दप्रसाद खत्री (र० का० १९१२-३०)

इनका जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित घराने में हुआ है। सब से प्रथम मूक-सिनेमा की ओर इनकी रूचि हुई और सिनेमा मैनेजरी से ही अपने जीवन का आरंभ किया। इसके पश्चात् स्वयं अभिनय करना आरंभ किया। यद्यपि *वीर अभिमन्यु* में अर्जुन का तथा *किंग लियर* में लियर का इन्होंने बहुत ही सुन्दर अभिनय किया था परन्तु इनकी प्रशंसा पागल का पार्ट करने में विशेष थी। सवाक् चित्रों के आने पर मूक चित्रों ने विदा ले ली और खत्री जी भी बंबई में आकर शारदा कम्पनी के डाइरेक्टर पद पर नियुक्त हो गए। काशी की नागरी नाटक मण्डली के साथ इनका जो संबंध था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

आनन्दप्रसाद जी ने कई नाटक लिखे—*गौतम बुद्ध* (१९२२) *कृष्ण-लीला* (१९२२), *ध्रुव-लीला* (१९२३) *परीक्षित*, *भक्त सुदामा* आदि। इनके अतिरिक्त *कलियुग*, *संसार स्वप्न*, *बिल्व-मंगल* और *राधा-माधव* आदि नाटकों का संपादन भी किया।

इनके नाटकों में चमत्कार होते हुए भी वस्तु-गठन सुन्दर है। भाषा बड़ी प्रौढ़ है, यद्यपि तुकान्त गद्य का प्रयोग कभी कभी खटकने भी लगता है।

हरिदास माणिक (र० का० १९१५-२०)

इनका निवास स्थान काशी है वहीं पर स्कूल में मास्टर हैं। आरंभ से ही अभिनय कला में रुचि रही है और अनेक बार सफल अभिनय कर दर्शक मण्डली द्वारा प्रशंसित किए गए हैं। इन्होंने *हरिश्चन्द्र नाटक* में शैव्या का, *राणा प्रताप या मेवाड़ मुकुट* में वीरसिंह और अफीमची का, *पाण्डव-प्रताप* में ढोलक शास्त्री का, *कलियुग* में रायबहादुर घसीटासिंह का और *संसार-स्वप्न* में बेटा दीना का सुन्दर अभिनय किया था, जिसके परिणाम स्वरूप मञ्च पर ही दर्शकों ने इन पर रुपये और गिन्नियाँ फेंकी थीं। सेंट्रल हिन्दू कालेज के संगीत-अध्यापक प्रोफेसर हरिकृष्ण हरिहरलेकर से विष्णु दिगम्बर की गायन पद्धति भी सीखी थी। अपने नाटकों में इन्होंने इस ज्ञान से समुचित लाभ उठाया।

माणिक जी के तीन नाटकों का पता चला है—इनमें से प्रथम दो उनके सफल नाटक हैं।

१. *संयोगिता-हरण या पृथ्वीराज* (१९१५)
२. *पाण्डव-प्रताप या युधिष्ठिर* (१९१७)
३. *श्रवण कुमार* (१९२०)

संयोगिता-हरण या पृथ्वीराज—(१९१५)—तीन अंक का नाटक है। कथा-वस्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। प्रथम अंक के नौ दृश्यों में संयोगिता का विनय, मंगल पाठ, और पृथ्वीराज की वीरता एवं शौर्य का समाचार सुनकर उन्हें अपना पति बनाने की इच्छा, जयचन्द की राजसूय-यज्ञ करने की अभिलाषा और पृथ्वीराज द्वारा उसमें विघ्न होने की आशंका, संयोगिता की पृथ्वीराज-प्रेम-दृढ़ता, पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द की पुत्री को भगा लाने का परामर्श आदि प्रसंगों की घटनाओं का वर्णन है। दूसरे

अंक के चार दृश्यों में पृथ्वीराज और उसके साथियों का कन्नौज में प्रवेश तथा चन्दवरदायी और राजा जयचन्द की भेंट का प्रसंग है। इस अंक के अन्तिम दृश्य में चंद द्वारा पृथ्वीराज के शौर्य और प्रताप की सुन्दर व्याख्या है। तीसरे अंक के तीन दृश्यों में संयोगिता-हरण, राजमार्ग में पृथ्वीराज और संयोगिता की जयचंद से मुठभेड़ होते-होते बचना और अजमेर पहुँचकर उसका पाणि-ग्रहण करने की कथा है। अन्तिम दृश्य में यह भी दिखाया गया है कि राजा जयचंद द्वारा प्रेषित एक पुरोहित देवता बहुत सा दहेज का सामान लेकर अजमेर पहुँचते हैं और यह समाचार देते हैं कि पंगराज जयचंद ने कहा है कि 'जो कुछ हुआ सो हुआ पर अब मर्यादा सहित विवाह हो।' पृथ्वीराज उसे स्वीकार करते हैं। सब आशीर्वाद देते हैं। नाच गान के पश्चात् नाटक समाप्त होता है।

पांडव-प्रताप अथवा युधिष्ठिर (१९१७)—यह भी तीन अंक का नाटक है। प्रथम अंक में आठ दृश्य हैं। धर्मराज युधिष्ठिर की राजसभा में नारद मुनि प्रवेश करते हैं और कहते हैं :

'हे कुन्तीपुत्र! तुम्हारे पिता कौरवनन्दन पांडु ने भी राजा हरिश्चन्द्र की शोभा देखकर मुझको यह सन्देशा तुमसे कहने के लिए कहा है कि महाप्रतापी युधिष्ठिर के सब भ्राता वश में हैं। इस कारण संपूर्ण धरती विजय कर वे राजसूय यज्ञ करें। यदि वह पूरा हो गया तो मैं भी इन्द्र-सभा में राजा हरिश्चन्द्र की समता करने लगूँगा।"

पिता की इच्छा के अनुकूल धर्मराज अपने भाइयों और मित्रों से मंत्रणा करते हैं और श्रीकृष्ण की सम्मति मिलने पर राजसूय यज्ञ की तैयारी आरंभ हो जाती है। सबसे पहली बाधा जरासन्ध राजा की बढ़ती हुई शक्ति और उसका प्रताप प्रतीत होता है। अतएव कृष्ण की योजना के अनुकूल भीम और अर्जुन को लेकर वह जरासन्ध की राजधानी में पहुँचते हैं और वहाँ भीम गदा-युद्ध में उसका वध

करता है। बन्दी राजाओं को स्वतंत्र कर कृष्ण सबसे युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार कराते हैं। दूसरे अंक के आठ दृश्यों में जरासंध के पुत्र सहदेव के राजतिलक, कृष्ण आदि के वापिस आने, और भाइयों के भी देश-विदेश को अधीन कर बहुत सा धन लाने की कथा है। तीसरे अंक के ५ दृश्यों में शिशुपाल-वध और युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति है।

नाट्य-विधान—दोनों नाटकों का आरंभ और अन्त संस्कृत प्रणाली पर हुआ है। सूत्रधार और नटी के संवाद द्वारा नाटक का परिचय दिया गया है और भरत-वाक्य की तरह दोनों का शुभ-कामना के रूप में अन्त हुआ है। मंगलाचरण के रूप में दो गाने हैं। ड्राप के उठते ही इन गानों से ही नाटक का आरंभ होता है। कथा-वस्तु का विभाजन गति और घटनाओं के विकास के अनुकूल है और जैसा ऊपर वर्णित है भिन्न भिन्न दृश्यों के अन्तर्गत रखा गया है। दृश्यों का क्रम रंगमंच की सुविधाओं के अनुसार है। पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान, दृश्य (पर्दे) गिरना और उठना इस प्रकार रखे गए हैं कि मंच तनिक सी देर के लिए भी खाली नहीं रहता। यद्यपि दोनों नाटक वीर रस प्रधान हैं और उनमें शृंगार की पर्याप्त मात्रा है परन्तु हास्य का पुट भी प्रस्तुत है। *संयोगिता-हरण* के त्र्यम्बक महाशय और *पांडव-प्रताप* के ढोलक शास्त्री हास्य की पूर्ति के निमित्त कारण हैं।

कलात्मक दृष्टि से भी नाटकों में कोई विशेष त्रुटि नहीं है। कथा-वस्तु का विकास सुन्दर है, चरित्र-चित्रण भी स्वाभाविक और इति-हासानुकूल है। संवादों में यथेष्ट शक्ति है, दो एक स्थानों पर आव-श्यकता से अधिक लम्बे होने के कारण उनमें एकरसता आ गई है। संगीत भी यथा-स्थान उपयुक्त है। परन्तु सबसे बड़ी कमी यही है कि गीति-काव्य कुछ उच्च कोटि का नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि दोनों नाटक पारसी नाटक वालों की कृत्रिमता और चमत्कार से रहित होने के कारण अधिक स्वाभाविक और रुचिकर लगते हैं। यदि गीतों में भी उच्च कोटि की कविता होती तो दोनों नाटक उत्कृष्ट कोटि में रखे जाते। इन नाटकों के देखने से यह भी समझ में आ जाता है कि पारसी नाटकों के विपरीत ये हिन्दी वालों की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं और इसके द्योतक हैं कि पारसी कम्पनियों वाले भद्दे नाटकों में मज़ा लेते हुए भी हिन्दी-भाषा-भाषी जनता अपनी रुचि को बिलकुल ही नहीं गँवा बैठी थी।

नागरी नाटक मंडली द्वारा *पांडव-प्रताप* का बड़ा सफल अभिनय काशी में हुआ था। ७ जून सन् १९१२ ई० को उसे देखने के लिए स्वयं श्रीमान काशी-नरेश आए थे। नाटक के लेखक ने ढोलक शास्त्री का अभिनय किया था। काशी-नरेश ने प्रसन्न होकर पात्रों के सम्मानार्थ २००) प्रदान किए थे।

प्राचीन नाटक-प्रणाली (संस्कृत वाली) और अर्वाचीन नाटक-प्रणाली (पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली) का सुन्दर समन्वय इन दोनों नाटकों में प्रस्तुत है।

इन मंडलियों से सम्बन्धित नाटककारों में *सुभद्रा-हरण* (सन् १९१०) और *हर हर महादेव* (१९३०) के लेखक पं० गोविंद शास्त्री दुग्वेकर नाम भी उल्लेखनीय है।

रंगमंच के अन्य नाटककार

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी हिन्दी जगत में कवि और पत्रकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। परन्तु अपने *कृष्णार्जुनयुद्ध* (सन् १९१८) नाटक में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। नाटक की कथा-वस्तु का आधार यद्यपि पौराणिक है परन्तु उसमें वर्तमान राजनीति का पुट विद्यमान है।

द्वितीय अंक के चौथे दृश्य में इन्द्र की सभा लगी हुई है। अग्नि, वरुण, कुवेर, यम आदि सब देवता अपने अपने अधीनस्थ कार्य का विवरण देते हैं। प्रत्येक देवता के वचनों में राजनीति का वर्तमान कलेवर विद्यमान है। कुवेर तो भावी आशंका का वर्णन करते हुए यहाँ तक कह देते हैं:—

"इन्द्र—धनराज ! आपका शासन अत्यन्त उत्तम है किन्तु यह कहिए, उस मूर्ख और अयोग्य पुत्र ने कौन सा उद्यम किया है जो अपने करोड़पति पिता के धन-वैभव का स्वामी बन जाता है।

कुवेर—महाराज ! इसमें मेरे प्रबन्ध का दोष नहीं। दोष है अपने को बुद्धिमान और स्वाधीन समझने वाले मनुष्य का। उसने किस कारण वश ऐसे सामाजिक और राजकीय नियम बना रखे हैं जिनके कारण धूर्त और अयोग्य भी अपार सम्पत्ति के स्वामी बन सकते हैं और धनवान तथा गरीब का भेदभाव सदा के लिए दृढ़ होता रहता है। किन्तु आगे चलकर पृथ्वी पर समष्टिवाद का बल बढ़ेगा। लोग प्रयत्न करेंगे कि धनवान और धनहीन का भेद मिटे। सुवर्ण तथा ऐश्वर्य से दमकते हुए महल और पास ही छप्पर रहित झोपड़ी दिखाई न देगी। महल तोड़े जावेंगे, झोपड़ियाँ हवेलियों में परिणत की जावेंगी। धन और धरती का संसार के सभी मनुष्यों में बराबर बँटवारा होगा। सब सुख से रहेंगे। केवल धन के कारण किसी को बड़प्पन नहीं मिल सकेगा क्योंकि एक के पास दूसरे से अधिक धन रहेगा ही नहीं।"

नारद जी तो मानो सत्ताधारियों और उनके मनमाने अत्याचार करने की शक्ति का नाश करने पर ही तुले बैठे हैं। स्थान स्थान पर वह कहते हैं—

"......मेरी नई युक्ति सध गई तो कृष्ण की प्रतिज्ञा मृगजल हो जावेगी। सत्ताधारियों की बुद्धि ठिकाने आजावेगी। अत्याचारियों की आँखों की अंधेरी हट जायगी और अविचारी प्रतिज्ञावादी अपना सिर सदा के लिए नीचा कर लेंगे।"

"......सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या दुर्घटनायें होती हैं—यह सब को मालूम हो जायगा।........."

"राजमद में आकर श्रेष्ठ राजा भी न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करने में नहीं हिचकते। ऐसी अवस्था में दीन निर्बल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं रहता।"

नाटक में हास्य का भी उपयोग उचित रीति से किया गया है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए दो पात्रों का आश्रय लिया गया है—शशि और शंख गालव के दो शिष्य हैं। शशि गुरुभक्त है और शंख शक्ति-भक्त। शंख के द्वारा प्राचीन अध्ययन-प्रणाली और ब्राह्मणी तपस्या श्राप एवं क्रोध का सुन्दर और शिष्ट परिहास कराया गया है।

नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट है और रंगमंचीय दृष्टिकोण से भी सफल है। दोनों आवश्यकताओं का सुन्दर समन्वय इसी नाटक में हुआ है। यदि चतुर्वेदी जी ने सुभद्रा के चरित्र में स्त्री जनित कोप-भवन वाली क्रिया के द्वारा अर्जुन को रिझाने का प्रयास न किया होता और उसके स्थान पर हिन्दू-रमणी के कर्तव्य और पति पर उसके अधिकार की तर्कबद्ध उपयोगिता एवं महत्ता दिखाई होती तो बहुत ही सुन्दर बात होती। सुभद्रा के चरित्र में जो शिथिलता इस तीसरी श्रेणी की योजना के कारण आ गई है वह दूर हो जाती। कर्तव्य का उद्-बोधन उस महान चरित्र के भी अनुकूल होता और हिन्दू संस्कृति का द्योतक भी। लेखक की युक्ति ने अर्जुन की महानता में भी हानि पहुँचाई है। सुभद्रा का तर्क और अपने अधिकार का प्रयोग—दोनों मिलकर अर्जुन को वह दृढ़ता प्रदान करते जिसकी कमी के कारण कभी कभी श्रीकृष्ण से युद्ध करने में उसका मन विचलित हो जाता है।

अन्यथा नाटक हिन्दी की ठोस और अमूल्य निधि है। यदि माखनलाल जी ने दो चार और ऐसे नाटक लिख दिए होते तो हिन्दी साहित्य के लिए वे गर्व की वस्तु होते।

जमनादास मेहरा (र० का० १९२१-३२)

इन्होंने प्रचुर मात्रा में नाटक लिखे हैं जिनमें से अनेकों का अभिनय अव्यवसायी नाटक-समाजों तथा मंडलियों द्वारा हो चुका है। नाटकों में सब का रचनाकाल विदित नहीं हो सका है। रचनाकाल १९२१ से १९३२ तक सुगमता से माना जा सकता है।

प्रमुख रचनायें—

विश्वामित्र (१९२१), *देवयानी* (१९२२), *जवानी की भूल* (१९२२), *हिन्द* (१९२२), *विपद-कसौटी* (१९२३), *कन्या-विक्रय* (१९२३), *कृष्ण-सुदामा* (१९२४), *भक्त चन्द्रहास* (१९२४), *पाप परिणाम* (१९२४), *मोरध्वज* (१९२६), *पंजाब केसरी* (१९२६), *सती चिंता* (१९२६), *भारत पुत्र* (१९३०), *हिन्दू-कन्या* (१९३२) । *वसन्त-प्रभा* का समय उस पुस्तक पर नहीं दिया गया परन्तु पढ़ने से वह लेखक की आरंभिक रचना प्रतीत होती है।

जवानी की भूल (१९२२)—सामाजिक नाटक है। रामनाथ नामक एक धनी व्यक्ति का पुत्र मानिकलाल अपनी सती पत्नी रमा को छोड़ कर फूलमनि वेश्या के प्रेम-जाल में फँस जाता है। उसका मित्र होकर भी किशोर, जो स्वयं फूलमनि से प्रेम करता है, इस प्रपंच में शामिल है। मानिकलाल सब कुछ खो बैठता है और किसी की सलाह की परवाह नहीं करता। परिणाम यह होता है कि फूलमनि उसके सब माल पर कब्जा कर अपने नौकर की हत्या के अपराध में उसे जेल भिजवा देती है। परन्तु मानिकलाल का एक अन्य मित्र मोहन, उसकी पत्नी रमा और वफादार नौकर रामसेवक सब षड्यंत्र का पता लगा कर मानिकलाल को छुटा लेते हैं। मानिकलाल अपनी जवानी के जोश में वेश्या-प्रेम की जो भूल कर बैठा है उसी पर पश्चात्ताप करता है और रमा तथा मानिक का मिलन हो जाता है।

नाटक की कथा-वस्तु सामाजिक जीवन के चित्र पर अवलम्बित है। उसका विकास अच्छा है। भाषा में शक्ति है। पद्य अधिक है। गीतों में गज़लों की प्रधानता है।

घुड़दौड़ के शौकीन सम्पतराम की जुआ खेलने की आदत के कारण अपनी अमूल्य सम्पत्ति का नाश और अन्त में अपनी स्त्री तारा तथा वफ़ादार मुनीम के कारण फिर से भाग्यशाली बनते दिखाने वाला प्रहसन मूल कथानक का ही रूपान्तर है। दोनों में घटनाओं के कारण में थोड़ा अन्तर है परन्तु परिणाम एक से ही हैं।

वसन्त-प्रभा उर्फ़ एक पैसा—यद्यपि लेखक ने इसे 'प्राचीन भारत की एक सत्य घटना का जीता जागता चित्र' माना है परन्तु इसका कथानक एक आदर्श को लेकर लिखा गया है जो सब कालों में सत्य है। प्राचीनता की इसमें केवल दो ही बातें हैं—वसन्त और प्रभा का गुरुकुल में अध्ययन और सिंहल द्वीप की ओर व्यवसाय के लिए वसन्त का जाना।

विवाहित होने पर वसन्त और प्रभा में आपस में एक ज़रा से व्यंग पर मनमुटाव हो जाता है जिसके कारण दोनों एक दूसरे से ज़बरदस्ती अलग हो जाते हैं यद्यपि अलग होने का मुख्य कारण स्वयं वसन्त है जो नल की तरह प्रभा को अकेला सोया हुआ छोड़ कर चल देता है। अनेक घटनाओं द्वारा लेखक ने प्रभा के चरित्र का विकास किया है जो देखने में बड़ी विचित्र और रहस्यमयी मालूम होती हैं। दोनों के मिलन में भी यही बात है।

नाटकीय प्रदर्शन की दृष्टि से नाटक की घटनाओं का चमत्कार दर्शकमंडली के लिए उत्साह-पूर्ण है क्योंकि उसमें अस्वाभाविकता की मात्रा अधिक है और उन्हें रंगमंचीय ढंग से दिखाने में कौतूहल भी पर्याप्त है।

हिन्दू-कन्या (१९३२) एक सामाजिक नाटक है जिसमें कन्या का आदर्श दिखाया गया है। पति महोदय अपने पिता के कहने से पहली पत्नी का त्याग कर देते हैं क्योंकि वह एक गरीब की लड़की है। दोष यह लगाया जाता है कि उसका (राधा का) जन्म दलित कुल में हुआ है। अनेक प्रकार के अनुनय विनय पर भी रमणलाल का कलेजा उसके लिए नहीं पसीजता और अपने ससुर एवं सास द्वारा तो राधा को पगपग पर ठुकराया जाता है। अपनी इज्ज़त को बचाना भी उसके लिए कठिन हो जाता है और जिस समाज में टोडरमल जैसे धनवान विलासी हों एवं राधा जैसी विधवा असती युवतियाँ हों, वहाँ ऐसे संकट कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेखक ने अपनी कथावस्तु को इसी आधार पर विकसित किया है और अन्त में रमणलाल और उसके पिता को अपनी भूल सुझा कर उस पर पश्चात्ताप करते दिखाया है। नाटक की समाप्ति रमण और राधा के मिलन पर होती है।

इसके साथ ही साथ 'बड़ा बाबू' नाम से एक प्रहसन भी है। यद्यपि मेहरा जी के अन्य प्रहसनों की अपेक्षा इसमें नवीनता है परन्तु आदि से अन्त तक उत्तम व्यंग्य और परिहास का इसमें भी अभाव है। बड़े बाबू और उनकी पत्नी हीरा का वार्तालाप मनोरंजक है।

मेहरा जी की लेखनी पौराणिक आख्यान और सामाजिक विषयों पर चली है। पौराणिक नाटकों—*देवयानी, कृष्ण-सुदामा, भक्त चन्द्रहास, मोरध्वज, विश्वामित्र*—में उन्होंने यथाशक्ति प्राचीन आदर्श को रखने का प्रयास किया है। सामाजिक नाटकों में—*जवानी की भूल, कन्या-विक्रय, हिन्दू-कन्या, पाप-परिणाम*—आदि में समाज के प्रतिदिन की समस्यायें हैं।

कला की दृष्टि से मेहरा जी के पास कहने के लिए बहुत कुछ है परन्तु उनकी सफलता केवल रंगमंच की दृष्टि से ही है जिसमें कुछ

घटनाओं को अति करुणा का रूप देकर दर्शकमंडली के हृदय को क्षण भर के लिए अपना लिया जाता है। परन्तु अभिनय-शाला से निकलने के पश्चात् उसका प्रभाव नहीं रहता।

उनके परिहास में भी परिपुष्टता नहीं। वे केवल उपदेशक के खिलौने ही बन कर रह गये हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्त (र० का० १९२२-३६)

यह भी काशीवासी थे। रंगमंच पर सबसे पहले अभिनेता के रूप में प्रवेश किया और अवैतनिक क्लबों में अभिनीत होनेवाले नाटकों में भाग लेकर प्रशंसा प्राप्त की। तत्पश्चात् नाटक लिखने की ओर ध्यान गया और अपने अध्यवसाय से कई नाटकों की रचना की। थोड़े दिनों पश्चात् इन्होंने भी बम्बई जाकर एक नाटक कम्पनी में प्रवेश किया और उसी में स्वरचित *हम्मीर*-हठ का अभिनय भी किया। इसमें इन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई। तत्पश्चात् बीमार पड़ गए और काशी में आकर इनका शरीरांत हुआ।

गुप्त जी ने अनेक नाटक लिखे हैं जिनमें से कुछ का रचना-काल संदिग्ध है। इनके प्रसिद्ध नाटकों में से हैं—*भक्त तुलसीदास* (१९२२), *भारत-रमणी* (१९२३), *महामाया* (१९२४), *नवीन संगीत थियेटर* (१९२४), *नक़ाबपोश* (१९३२)। इनके अतिरिक्त *नल-दमयन्ती*, *थियेटर बहार*, *दोधारी तलवार*, *गरीब किसान*, *देशोद्धार* और *श्रीमती मंजरी* नामक नाटक भी इन्होंने लिखे। इनमें *श्रीमती मंजरी* सुन्दर नाटक है।

गुप्त जी के आरम्भिक नाटकों पर बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। *महामाया* नाटक की कथा-वस्तु और उसका सम्बन्ध-सौष्ठव बिलकुल राय महाशय के *दुर्गादास* के अनुरूप है। *महामाया* के दूसरे अंक का तीसरा दृश्य और

तीसरे अंक का दूसरा दृश्य तो *दुर्गादास* के क्रमशः दूसरे अंक के छठे दृश्य एवं चौथे अंक के छठे दृश्य से इतना अधिक मेल खाते हैं कि उन्हें केवल रूपान्तर ही कहा जा सकता है।

श्रीमती मंजरी में हिन्दू-मुसलिम एकता की समस्या को बहुत ही सुन्दर ढंग से रखा गया है। आगा हश्र के नाटकों की तरह इस नाटक में भी दो कथानक हैं। मूल कथा का सम्बन्ध मञ्जरी, उसके पिता की दरिद्रता और विवशता एवं एक मुसलमान बालक का पालन पोषण कर उसे अपने पुत्र समान मानने की उत्कंठा तथा समाज के अभिशाप धनी विलासियों के प्रतिनिधि की मञ्जरी के प्रति प्रेम-लिप्सा, एवं साधारण हिन्दू मुसलिम वैमनस्य के भावों की प्रचुरता से है दूसरी का सम्बन्ध उधारचन्द की पुत्री चम्पा और रोकड़चन्द एव नैना के कार्य-कलाप से है। दोनों में से मूल कथा-वस्तु का विकास स्वाभाविक और पुष्ट है परन्तु दूसरे में लेखक ने हास्य का पुट देने का प्रयास किया है जिस में सफलता नहीं मिली और कहीं कहीं पर सुरुचि का भी अभाव है।

यदि इस दूसरे कथानक को *श्रीमती मंजरी* में से निकाल दिया जाय तो नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों की दृष्टि से बड़ा सफल माना जायगा। उसकी भाषा, भाव और संवाद सब में शक्ति है प्रेरणा है, धारावाहिकता है। यद्यपि पारसी नाटकों की तरह इसमें भी पद्य की प्रधानता है परन्तु उन पद्यों में प्रौढ़ता है और उनकी भाषा बड़ी मँजी हुई है।

श्रीमती मंजरी उनके नाटकों में श्रेष्ठतम है।

शिवराम दास गुप्त

यह भी काशी निवासी हैं। नाटक संसार में इनका प्रवेश पहले स्वरकार के रूप में हुआ। उसके पश्चात् क्रमशः अभिनेता, संचालक

और लेखक हुए। साहित्य में इन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय और आगा हश्र को अपना गुरु स्वीकार किया है। नाटक संसार समाप्त होने पर भी अभी तक नाटक लिखने में रुचि है। इनकी संस्था उपन्यास बहार आफिस स्वयं इसका प्रमाण है। अनेक लेखकों की रचनाओं को अपनी संस्था से प्रकाशित कर उन्हें नाटक लिखने के लिए इन्होंने प्रोत्साहित किया है।

रचनाओं की संख्या पर्याप्त है—

चिरागे चीन (१९२५), *दूज का चाँद* (१९३०), *परिवर्तन*(१९३१), *पहली भूल* (१९३२), *दौलत की दुनिया* (१९३३)। इनके अतिरिक्त अन्य नाटक जिनका समय ज्ञात नहीं हो सका—*मेरी आशा, बलिदान, देश का दुर्दिन, समाज का शिकार, वीर भारत, जवानी का नशा, आज की बात, आज कल, धरती माता, पशु बलि* आदि आदि।

शिवराम दास जी के नाटकों ने पर्याप्त लोक-प्रसिद्धि प्राप्त की है। रंगमंच पर इन नाटकों को बड़ी सफलता मिली है।

बाबू बलदेवप्रसाद खरे (र० का० १९२२-२५)

इन्होंने भी कई नाटक लिखे परन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं आ पाई और इसी कारण वे पारसी नाटक कम्पनियों के केवल हिन्दी रूप मात्र होकर ही रह गए।

अन्य नाटककारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख यथास्थान परिशिष्ट में कर दिया गया है।

अध्याय ६

'प्रसाद' का आगमन—उनकी रचनायें; समकालीन नाटककार

(सन् १९१५—'३३)

सन् १९१६ में लखनऊ काँग्रेस के अधिवेशन पर पहली बार विभिन्न राजनीतिक दलों में मेल हुआ और उसके एक वर्ष बाद ही 'उत्तरदायी-शासन' की ओर पहला कदम बढ़ाया गया। सरकार की दमन-नीति ने इस बार फिर राष्ट्रीय जागृति में सहायता दी और १९१८ में मांटेगू-चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार भारतीयों को देश की शासन-व्यवस्था में कुछ अधिकार दिए गए परन्तु महायुद्ध के पश्चात् भारत की स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए अँगरेजी सरकार ने जो वचन दिये थे उनको पूरा नहीं किया गया; वरन १९१९ में रौलट ऐक्ट द्वारा भारतवासियों की स्वतंत्रता पर और भी अधिक प्रतिबन्ध लगा कर उसे कुचलने का उद्योग किया गया। असंतोष की आग फिर से फैलने लगी। प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने बड़े कटु और कठोर शब्दों में इस नीति का विरोध किया। अमृतसर के हत्या-कांड ने उनकी आवाज़ और ऊँची कर दी। कल्पना और रसोत्कर्ष को छोड़ कर हिन्दी साहित्य तत्कालीन जनता की रुचि का अभिव्यंजक बना। यद्यपि ये उद्‌गार अधिकतर कविताओं द्वारा ही प्रदर्शित होते थे परन्तु बाद को *'ज़ख्मी-पंजाब'* अथवा *'वतन'* आदि नाटकों द्वारा भी जनता के सामने आये।

देश-प्रेम की भावना ही इस समय प्रबल होकर मूर्तिमान हो

उठी थी। देश के नेतृत्व की बागडोर गाँधी जी के हाथ में आई और उन्होंने जनता को असहयोग और अहिंसात्मक कार्य की शिक्षा देकर उन्हें सिखाये सैनिक बनाना आरंभ किया। सन् १९२० में स्वराज्य-युग का आरंभ हुआ और सन् २८ तक वह बिना किसी रोकटोक चलता रहा। भारत सरकार द्वारा किए गए अनाचारों ने सत्याग्रहियों के उत्साह को मन्द न होने दिया। देश के साहित्य ने उनके हृदय को उदात्त बनाया और कष्टों को सहने की प्रेरणा दी। १९३० में गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया और देश की आँखें और सब समस्याओं से हटकर एकबारगी इसी ओर आगई। देश के स्त्री और पुरुषों ने अपना सर्वस्व बलिदान कर गाँधी जी का साथ दिया और जन्म-भूमि को पूर्ण स्वतंत्रता की माँग के उपयुक्त बनाया। जनमत को तैयार करने में हिन्दी नाटकों का बड़ा हाथ था।

वैज्ञानिक आविष्कारों और व्यापार-प्रतियोगिता ने बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति में सुगमता स्थापित कर मनुष्यों को शारीरिक सुख-साधनों की ओर आकर्षित किया। एक ओर धनवानों की आर्थिक आय में वृद्धि आरंभ हुई और दूसरी ओर उत्पादकों की दशा और अधिक बिगड़ने लगी। शोषक और शोषित वर्ग के अन्तर्युद्ध का बीजारोपण हुआ जिसने आगे चलकर प्रगति-शील साहित्य को जन्म दिया।

सब प्रकार से वह जन जागृति का युग था। प्राचीन, परिस्थिति, प्राचीन विचार-धारा, समाज, जाति आदि सभी में एक प्रतिक्रिया दिखाई देने लगी। हिन्दी साहित्य में एक नया दृष्टिकोण दिखाई देने लगा। छायावाद और रहस्यवाद कविता-क्षेत्र के प्रधान अंग बने। प्रेमचंद के उपन्यासों ने मानव-जीवन की समस्याओं का तत्कालीन सत्य चित्र अंकित किया। मैथिलीशरण ने अपनी राष्ट्र-वीणा के तार खींच कर अधिक ऊँचे स्वर से भारतीयता का संदेश सुनाया, साहित्य-सम्मे-

लन ने हिन्दी प्रचार और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अनेक पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा हिन्दी की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर बहुत से हिन्दी लेखक उत्पन्न किए। स्कूलों और कालिजों में हिन्दी वैकल्पिक विषयों में रखी गई जिसके कारण उच्च-कोटि की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ।

परन्तु इन सब परिस्थितियों में 'प्रसाद' का व्यक्तित्व सर्वोपरि था।

प्रसाद के नाटक, उनका वातावरण एवं उनमें वर्तमान चिंताधाराओं का प्रतिबिम्ब

आरंभ में प्रसाद केवल कवि थे। उनमें कल्पना, अनुभूति और काव्यत्व की प्रधानता थी। वर्तमान छायावादी एवं रहस्यवादी कविता के जन्मदाता भी वही थे यद्यपि आगे चल कर उन्होंने इसका नेतृत्व छोड़ दिया और पंत एवं निराला आदि ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। फिर भी प्रसाद की कविता अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति को छोड़ न सकी। धर्म-पुस्तकों, वेदों, पुराणों एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रसाद की प्रतिभा में और अधिक बल आ गया था। इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन और मनन ने भारतीय संस्कृति के संबंध में प्रसाद की धारणाओं को दृढ़ बनाने में बड़ी सहायता दी थी। भाषा पर तो उनका पूर्ण अधिकार था ही। भाषा, भाव, विचार अन्वेषण, अध्ययन आदि सभी आवश्यक ज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं से सुसज्जित होकर प्रसाद ने नाटक-भूमि में प्रवेश किया।

आरंभ में उन्होंने चार एकांकी नाटक लिखे—*सज्जन* (१९१०-११), *कल्याणी-परिणय* (१९१२), *करुणालय* (१९१२) और *प्रायश्चित्त* (१९१४)। कला की दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व नहीं है। परन्तु प्रसाद की नाट्यकला के विकास में ये आवश्यक कड़ियाँ है। इनके द्वारा लेखक

अनेक प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। उसने काव्य की ब्रज-भाषा को अपनाया है, खड़ी बोली का उपयोग किया है, अतुकान्त नाट्य-गीत का प्रयास किया है। *करुणालय* के हरिश्चन्द्र—प्राग् ऐतिहासिक काल—से लेकर महाभारत के पांडव, मौर्यवंशज चन्द्रगुप्त और मुसलमान आक्रमण काल के जयचन्द को अपने एकांकियों के पात्र बनाया है। प्राचीन इतिहास की तत्कालीन परिस्थितियों में वर्तमान भारत की अवस्था के कारणों की ओर प्रसाद ने सुन्दर संकेत किया है और उनसे मुक्त होने के लिए प्रेरणा भी दी है। कथा-वस्तु के विकास में उन्होंने दोनों प्रकार के—मानवी और अतिमानवी—साधनों का प्रयोग किया है।

प्रसाद की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का अंकुर इन एकांकी नाटकों में स्पष्ट हो जाता है। *राज्यश्री* (१९१५) में उनकी प्रवृत्ति और भी अधिक दृढ़ता प्राप्त कर लेती है। दूसरे संस्करण की भूमिका में प्रसाद ने स्वयं लिखा है "···एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण ही सा था, वर्तमान रूप इसका कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है, किन्तु मूल में नहीं।' *विशाख* (१९२१) में उनका दृष्टि-कोण और भी अधिक निश्चित दिखाई देता है—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभ दायक होता है।...क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।......मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।'

अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे। *विशाख* इस माला का प्रथम पुष्प है

और *ध्रुव-स्वामिनी* अन्तिम।

विशाख, अजात-शत्रु (१९८२) और *जनमेजय का नागयज्ञ* (१९२६) प्रसाद की एक निश्चित विचार-धारा के नाटक बद्ध विकास को प्रदर्शित करते हैं। इन तीनों नाटकों में प्रतिहिंसा करुणा और सहानुभूति का रूप धारण कर लेती है और उनके द्वारा आत्म-संयम तथा आत्म-शासन की प्रतिष्ठा होती है। महत्त्वाकांक्षायें पुरातन को हटाकर नूतन की संस्थापना करना चाहती हैं। यौवन का उष्ण रक्त मन को अनेक उत्तेजनायें देता है परन्तु प्रेमानन्द, गौतम या महर्षि व्यास जैसों का व्यक्तित्व दुखान्त को सुखान्त बनाने में सहायक होता है। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आकुल भारत की युवक आत्मा ही प्राचीन से विद्रोह कर रही है। परन्तु नाटक अतीत के ऐतिहासिक वातावरण में वर्तमान की झाँकी प्रस्तुत कर पाठकों में कौतूहल और उत्साह का सृजन करते हैं। अन्यथा पुराने पचड़ों में किसे आनन्द आता।

प्रसाद के *स्कन्दगुप्त* (१९२८), *चन्द्रगुप्त* (१९३१) यद्यपि अलग-अलग कालों के इतिहास के प्रतिनिधि हैं परन्तु उनमें भी आदर्श और यथार्थ का अपूर्व समन्वय है। *स्कन्दगुप्त* में अनेक प्रकार के संघर्षों का समावेश है—पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र, स्वामी-सेवक तथा सखा-सखी सभी का द्वन्द्व उसमें है। इसी प्रकार *चन्द्रगुप्त* में विराट प्रतिहिंसा और विराट त्याग दोनों का सम्मिश्रण दिखाया गया है। दोनों नाटकों में कर्तव्य और भावुकता के संघर्ष में कर्तव्य की विजय प्रदर्शित की गई है। सन् १९३० तक नवीन भारत की जिस राष्ट्र-भावना तक हम पहुँच चुके थे इन इतिहास वृत्तों में वह अपने समुज्ज्वल रूप में प्रगट हुई है। चाणक्य अपने शिष्यों को यही उपदेश देता है कि—'मालव और मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म-सम्मान) मिलेगा।' और सिंहरण के इन शब्दों में 'परन्तु मेरा

देश मालव ही नहीं गांधार भी है, यही क्या समग्र आर्यावर्त है।' अखण्ड भारत की भावना ही प्रतिध्वनित हो रही है।

उनके *कामना* (१९२३-२४) नाटक में प्रतीकवादी परम्परा की रक्षा है। प्रसाद की विचार-धारा को समझने में वह बड़ा सहायक है। भौतिक विलासिता ने विषमता को जन्म दिया और राजनीति ने उस वातावरण को और अधिक विक्षोभ-पूर्ण बना दिया। परिणाम हुआ विवेक और संतोष की मूकता, परन्तु ज्ञान के उदय और विवेक एवं संतोष के सहयोग से समाज में पुनः मंगल-विधान की स्थापना हुई। मनोवैज्ञानिक विकास के इसी उतार चढ़ाव का मानवी-करण प्रसाद ने इस नाटक में किया है। प्रतीत होता है अपने चारों ओर चढ़ती हुई असंतोष की लहर को देखकर प्रसाद उसके मूल में जाने का प्रयत्न करते हैं और अपने उत्तर को नाटक का रूप दे देते हैं।

इसी प्रकार *एक घूँट* (१९२९-३०) प्रसाद ने जीवन के सम्बन्ध में कुछ विचारों को नाटक-रूप में रखा है। जीवन का लक्ष्य क्या है? आदर्श और यथार्थ में क्या भेद है? स्त्री और पुरुष—मानव के इन दोनों पक्षों में किसी प्रकार के सामंजस्य की आवश्यकता है? इन प्रश्नों के उत्तर प्रसाद ने अपने विभिन्न चिंता-धाराओं के प्रतिनिधियों से दिलवाये हैं। उनका निर्णय यही है कि पुरुष की कठोरता का अवसान स्त्री की कोमलता और सौन्दर्याकर्षण में होता है। मधुर मिलन में ही, विरोधों की संधि में ही, संसार का समस्त श्रम-सन्ताप खो जाता है।

जीवन के गंभीर पहलुओं पर इस प्रकार का विचार नाटक साहित्य में प्रसाद की ही देन है और वह बड़ी उपयोगी एवं समीचीन है। युग की माँग के उत्तर में यह प्रसाद की मौलिक सहायता है।

प्रसाद केवल ऐतिहासिक नाटक-लेखक ही नहीं थे। उन्होंने *ध्रुवस्वामिनी* (१९३३) में नारी-समस्या पर नया प्रकाश डालकर उसे

'मोक्ष' पाने का अधिकारी बताया है। सामाजिक विच्छृंखलता की परिस्थिति में उनकी यह खोज-पूर्ण नाटिका पुरातन जीवन का उद्घाटन भी करती है और वर्तमान को प्रेरणा भी देती है।

अपने नाटकों में वह अपने युग के साथ चले हैं और उनकी प्रथम विशेषता यही है कि ऐतिहासिक वातावरण की पृष्ठभूमि में उन्होंने वर्तमान को रख कर भविष्य के लिए मार्ग प्रदर्शन किया है।

प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता और नाट्य-विधान की नूतनता

प्रसाद की अधिकांश रचनायें ऐतिहासिक हैं। उनके नाटकों की घटनायें महाभारत से आरंभ होती हैं। *'सज्जन'* और *'जनमेजय का नाग यज्ञ'* द्वापर के अन्त और कलियुग के आरंभ काल की स्थिति और विचारधारा के द्योतक हैं। *'नाग यज्ञ'* में तत्कालीन नर-बलि का उल्लेख स्पष्ट है। तक्षक सर्प द्वारा राजा परीक्षित की मृत्यु वाली जो कथा चली आ रही थी उससे साधारण जनता यही समझती थी कि सर्प-दंशन द्वारा परीक्षित की मृत्यु हुई। परन्तु इतिहास के आधार पर 'नाग' को 'सर्प' का पर्यायवाची मानते हुए भी प्रसाद जी ने बताया है कि उसका अर्थ 'काटने वाला विषैला जन्तु विशेष' नहीं वरन 'नाग' एक जाति थी जो खाण्डव-दाह के समय अपने निवास-स्थान से निर्वासित कर दी गई थी और जिसने अपने बल द्वारा आगे चल कर तक्षशिला तक पर अधिकार कर लिया था। महाभारत और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर प्रसाद जी ने अपनी अध्ययनशील भूमिका में नाटक सम्बन्धी घटनाओं की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है।

जिन ग्रन्थों में नाटक की घटनायें कथा-बद्ध हैं उनके विद्यमान रहते हुए भी प्रसाद से पहले किसी ने उनकी ओर भारतीय इतिहास की खोज की दृष्टि से देखा नहीं था। प्रसाद ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने

प्राचीन इतिहास की भूली हुई श्रृंखलाओं की कड़ियों को खोजने और उन्हें मिलाने का दुस्तर कार्य आरंभ किया। '*नागयज्ञ* में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो।'* घटनाओं के तारतम्य और सम्बन्ध-निर्वाह के लिए अन्य ग्रन्थों का उपयोग भी प्रसाद ने किया।

जनमेजय के राज्य काल के पश्चात् भारत के इतिहास पर एक विस्मृति का आवरण पड़ गया। उन्नति-शील भारत में फिर कुछ न हुआ हो ऐसी संभावना नहीं। अनेक राजवंश भारतभूमि पर उत्पन्न हुए और अपना समय समाप्त कर काल-कवलित होगए। प्रसाद जी ने अपने प्रसिद्ध लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में इन्द्र को आर्य-साम्राज्य का संस्थापक माना है। इन्हीं इन्द्र के विषय में भी वह एक नाटक लिखना चाहते थे परन्तु अपनी इच्छा को कार्य का रूप न दे सके। ऐसा कर-देने से उनके नाटक भारत के बिखरे हुए इतिहास का सूत्रबद्ध प्रकरण बन जाते।

उनका नाटक *चन्द्रगुप्त* भी नंद-वंश के पर्यवसान और मौर्यवंश के आरंभ से सम्बन्धित इतिहास है। इस विषय पर अन्य लेखकों ने भी लिखा है। परन्तु प्रसाद की विशेषता चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्र-चित्रण में है। विशाखदत्त का चन्द्रगुप्त चाणक्य की कठपुतली जैसा है। उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु प्रसाद ने चाणक्य के साथ साथ चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का भी पूर्ण विकास किया है। *मुद्राराक्षस* का चाणक्य हृदय-हीन कठोर और कर्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण है परन्तु प्रसाद का चाणक्य यद्यपि 'सिद्धि देखता है साधन चाहे जो कुछ हो' परन्तु फिर भी उसमें मानव-जन्य प्रेम की कोमलता है। सुवासिनी के प्रति उसकी प्रेम-भावना आत्मसंयम एवं

---

*जनमेजय का नागयज्ञ—प्राक्कथन, पृ० ४।

त्याग का रूप धारण कर लेती है। प्रेम के ऊपर यह ब्राह्मणत्व की विजय है। परन्तु प्रसाद ने चाणक्य का यह रूप दिखाकर उसके साथ मानवी और नाटकीय न्याय ही किया है। संभव है ऐसा करने में वह इतिहास का उल्लंघन कर गए हों परन्तु मानवता की सीमा की पराकाष्ठा भी तो एक पक्ष है जिसका अभाव भावुक और बुद्धि-वादी दोनों को खटकता है।

बिंबसार (बिंदुसार) इन्हीं सम्राट चन्द्रगुप्त का पुत्र था जो उनके पश्चात् मगध का सम्राट बना। गौतम बुद्ध के समकालीन इन सम्राट के समय जिस षड्यंत्र की योजनायें हो रही थीं, और उनके समकालीन अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों में क्या क्या राजनीतिक और धार्मिक संक्रान्तियों का चक्र चल रहा था उसी ऐतिहासिक सामग्री को *अजात-शत्रु* का आधार बनाया गया है। अपने नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का पूर्ण विस्तार लेखक ने कथा-प्रसंग में किया है।

इस प्रसंग में केवल एक बात का पता नहीं चलता—*अजातशत्रु* क्या अशोक का ही दूसरा नाम था ? इतिहासकार बिंबसार के पुत्र अशोक को उसका उत्तराधिकारी मानते चले आ रहे हैं। अतएव परिणाम तो यही निकलना चाहिए कि अशोक और अजातशत्रु दोनों एक ही व्यक्ति हैं। प्रसाद जी भी इस पर मौन हैं।

अशोक की राज-परम्परा कुणाल द्वारा आगे को चली।

मौर्य राज्य के अन्त में शुंगराज्य, काण्वराज्य और आन्ध्रराज्य का वर्णन मिलता है। परन्तु इनमें कोई प्रतिनिधि राजा या व्यक्ति इस योग्य नहीं हुआ जो नाटक के नायक होने का गौरव प्राप्त कर सके। इतना अवश्य था कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जो यवन-आक्रमण आरंभ हुए थे उनकी परम्परायें चलती ही रहीं। गुप्त काल में आकर एक बार फिर से भारत का भाग्योदय हुआ। इसी काल के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने दो नाटकों की सृष्टि की है। *'ध्रुवस्वमिनी'* और *'स्कन्दगुप्त'*।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद ने इतिहास की खोज के आधार पर तत्कालीन युगों के प्रतिनिधि राजाओं और व्यक्तियों को लेकर अपने नाटकों की कथा-वस्तु का निर्माण किया है। यद्यपि, जैसे पहले दिखाया जा चुका है, ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा हिन्दी में नई नहीं थी परन्तु प्रसाद ने उसमें खोजपूर्ण सामग्री का प्रयोग कर अपनी कल्पना से ऐसी परिस्थिति-योजनाओं का निर्माण किया है जो एक दम नई हैं। साहित्य के लिए यह उनकी मौलिक देन है।

इस नाटक सामग्री से यह धारणा बना लेना उचित नहीं है कि प्रसाद ने इतिहास को छोड़कर किसी अन्य तत्त्व की सहायता नहीं ली। सत्य घटनाओं की कठोरता को कोमल बनाने में पात्रों के ऐतिहासिक चरित्रों को मानवता का परिधान देने के लिए और नाट्य कला प्रदर्शन की उत्कृष्टता दिखाने के लिए उन्होंने अपनी कल्पना का समुचित प्रयोग किया है। उनके अधिकतर पात्र ऐतिहासिक हैं इसमें सन्देह नहीं परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनकी रूपरेखायें इतिहास में मिलती हैं केवल उनके नाम का कोई पता नहीं चलता, यथा *जनमेजय का नागयज्ञ* में वेद की पत्नी दामिनी, कुकुर शाखा की यादवी सरमा; *अजातशत्रु* में पद्मावती, शक्तिमती; *चन्द्रगुप्त* में दांड्यायन आदि। कुछ स्त्री पात्रों की कल्पना भी प्रसाद ने की है। मालविका, विजया, देवसेना, जयमाला, मंदाकिनी, अलका सब उन्हीं की सृष्टि हैं। इस विषय में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1]

ऐतिहासिक सामग्री के अतिरिक्त उनकी *कामना* और *एक घूँट* के विषय तो नितान्त मौलिक हैं ही।

अतएव हिन्दी के नाटक साहित्य में विषय की नूतनता के प्रसाद जी अग्रगण्य दूत हैं।

---

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा।

अपने *नाटकीय-विधान* में भी प्रसाद को सर्वतोमुखी मौलिकता दिखाई देती है। एक ओर तो उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय नाट्य शास्त्र के समस्त अंगों का परिपाक हुआ,[१] और दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्तों का समावेश भी अपने नाटकों में दिखाया है।

प्रस्तावना और वर्जित विषय दिखाने वाले गर्भांकों, प्रवेशकों और विष्कंभकों को उन्होंने सदा के लिए बिदा दे दी। उनके प्रौढ़ नाटकों का आरंभ उसी दृश्य से होने लगता है जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। उनके नाटक का प्रथम अंक भावी समस्याओं और घटनाओं की सारी परिस्थितियों के संकेत दे देता है। इन्हीं मूल घटनाओं से कथा-वस्तु का निरंतर विकास दिखाया जाता है। पात्रों के चरित्र की स्पष्टता भी तभी लक्षित होती है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सारे चित्र अंकित होकर समाप्त हो जाते हैं और हमारी कुतूहलता और औत्सुक्य की समाप्ति हो जाती है।

ऐतिहासिक घटनाओं के कारण प्रसाद जी की सीमाएँ कुछ संकुचित हो गई हैं। यद्यपि नाटक इतिहास नहीं होता परन्तु फिर भी किसी नाटक-लेखक को यह अधिकार नहीं रहता कि वह घटनाओं की सत्यता में परिवर्तन कर सके। प्रसाद जी की स्थिति इस दृष्टि से और भी कठिन थी। उनकी घटनाओं के संबंध-निर्वाह की अनेक सूक्ष्म कड़ियाँ उन्हें प्राप्त नहीं थीं। ऐसे स्थानों पर उन्होंने अपनी कल्पना की सजीवता से नाटक को और भी अधिक रुचिकर बना लिया है। स्त्री पात्रों के सन्निवेश से यह कार्य अधिकांश में सफल हो सका है। *चन्द्रगुप्त* की मालविका और अलका, *स्कन्दगुप्त* की देवसेना और विजया, तथा *ध्रुवस्वामिनी* की कोमा और तत्संबंधी घटनाओं के अभाव में प्रसाद जी के ये नाटक कोरा इतिहासमात्र ही रहते।

---

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा।

अपने *चरित्रों के विकास* तक में उन्होंने एक ही सूत्र रखा है। कोई भी पात्र अपने संस्कारों और जातिगत व्यवहारों से परे नहीं जा पाता। यदि जाना भी चाहता है तो परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं कि अपनी जैसी करने में वह असमर्थ होता है। आस्तीक बड़ी उत्कंठा से अपनी बहिन मणिमाला से पूछता है: "क्यों मणि, यह सब क्या है? इसका कुछ तात्पर्य भी है, या केवल कुहुक है? इन मांस पिंडों में क्यों इतना आकर्षण है; और कहीं-कहीं क्यों ठीक इसके विपरीत है? जिसको स्नेह कहते हैं, जिसको प्रेम कहते हैं, जिसको वात्सल्य कहते हैं, वह क्यों कभी-कभी चुम्बक के समान उसके साथ के लिए दौड़ पड़ता है जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं? और जहाँ उसका उद्भव है, वहाँ से क्यों कोई संपर्क नहीं रखता?" आस्तीक के ये वाक्य किसी छायावादी कवि की आत्म-जिज्ञासा मात्र ही नहीं हैं। *नागयज्ञ* का शान्ति-स्थापन इसी आस्तीक के द्वारा होता है जो जनमेजय से अपने पिता की मृत्यु के प्रायश्चित्त स्वरूप तक्षक का प्राणदान माँगता है। चाणक्य भी अपनी समस्त कूटनीति के पश्चात् ब्राह्मवृत्ति को ही धारण कर संतोष प्राप्त करता है। अपने संस्कारों से उसे कुछ दिनों के लिए अवकाश मात्र मिल जाता है परन्तु अन्त होता है वहीं जहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का होना चाहिए। अजात और विरुद्धक धर्म-संक्रान्तियों के कारण अपने पिता का विरोध करते हैं परन्तु अन्त में मनुष्यता ही की विजय होती है, उद्दण्डता की नहीं। इन दोनों पात्रों में कठोरता का पर्यवसान कोमलता में हो जाना अवश्य एक अपवाद है। स्कन्दगुप्त जिस कर्तव्य-परायणता और दार्शनिक उदासीनता से कहता है, 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है........उँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं,' उसका वही संस्कार अन्त में अपने छोटे भाई को सुखपूर्वक राज्याधिकार देने में सहायक होता है। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त के मन में अपने वंश की मर्यादा का विचार उसे शकराज की मृत्यु की

प्रेरणा देता है और उसी कारण गुप्त-कुल को स्थित रखने की वजह से वह सिंहासनारूढ होता है अन्यथा केवल मात्र सैनिक रहकर भी वह रामगुप्त के राज्य की रक्षा कर सकता था।

अंक और दृश्य विभाजन में प्रसाद ने कोई एक ही शैली का अनुकरण नहीं किया है। *राज्यश्री* में चार अंक हैं परन्तु प्रत्येक अंक के दृश्य परिवर्तन में उन्होंने 'दृश्य' का प्रयोग न कर केवल संख्या अंकों का प्रयोग किया है। *विशाख* और *चन्द्रगुप्त* में भी उन्होंने इसी शैली का प्रयोग किया है। संभवतः इसका कारण यही है कि विभिन्न दृश्यों के होते हुए भी वह एक अंक की कथा-वस्तु का विकास केवल अंक द्वारा ही सूचित करना चाहते थे।

नागयज्ञ, *अजातशत्रु* और *कामना* में उन्होंने अंक और दृश्य विभाजन वाली प्रणाली को अपनाया है। *स्कन्दगुप्त* में उन्होंने कोई संख्या अंक भी नहीं लिखा। अंक में जहाँ कहीं दृश्यान्तर आवश्यक समझा है वहाँ 'पट-परिवर्तन' या 'पटाक्षेप' का प्रयोग कर दिया है जो दृश्य-परिवर्तन का संकेत है। *ध्रुवस्वामिनी* में अंकों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। कथानक का विकास ही इस प्रकार किया है कि प्रत्येक अंक में वह संपूर्ण सी होती चलती है। *एक घूँट* में यह भी आवश्यक नहीं रह गया क्योंकि वह एकांकी नाटक है और सारा कार्य व्यापार एक ही बैठक में समाप्त हो जाता है।

अतएव इस अंक और दृश्य-विभाजन की समस्या पर प्रसाद अनिश्चित हैं। उनकी इस अनिश्चितता का कोई प्रभाव उनके सम-कालीन या परवर्ती नाटककारों पर नहीं पड़ा।

संवाद और पात्रों द्वारा वस्तु-निर्देशन (delivery) में प्रसाद ने एक नूतनता ला दी। भारतेन्दु काल के संवादों का तर्क भी इनके संवादों में बना रहा और साथ ही साथ उनमें भावुकता की भी छाप लग गई। प्रसाद ने इस सम्बन्ध में 'स्वगत' और 'सूच्य' दोनों शैलियों का समु-

चित उपयोग किया है। कहीं-कहीं पर उनके पात्रों के अनावश्यक भावुक भाषण बड़े अस्वाभाविक एवं अरुचिकर हो गए हैं परन्तु यह त्रुटि कुछ सीमा तक क्षम्य हो सकती है। प्रसाद का हृदय भावुक कवि का हृदय था अतएव यदि किसी स्थल पर वह अपने नाटककार रूप में कवि का आधिक्य कर दें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हाँ, जहाँ पर ऐसे संभाषण कार्य-गति-प्रेरक न हो कर अवरोधक बन गए हैं वहाँ उनकी नाट्यकला में यह दोष माना ही जायगा। *स्कन्दगुप्त*, *चन्द्रगुप्त* और *ध्रुव-स्वामिनी* संवाद की दृष्टि से उनके उत्कृष्ट नाटक हैं। बाह्य परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रांकन इन संवादों द्वारा बहुत ही सुन्दरता और धारावाहिकता के साथ हुआ है।

अपनी चरित्र-चित्रण-कला में प्रसादजी ने एक नई प्रणाली का उपयोग किया है। प्रत्येक नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ एक ऐसा भी मनुष्य है जो विषमता में समता लाने का उद्योग करता है। संस्कारों में परिवर्तन, अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करना उसका प्रधान कार्य है। कभी-कभी तो यह काम किसी साधु महात्मा से लिया गया है; जैसे दिवाकर मित्र, प्रेमानन्द, व्यास, गौतम और मिहिरदेव आदि और कभी कभी स्त्रियों ने गिरते हुए पात्र को सँभाला है अपनी स्त्री जन्य इच्छाओं का त्याग करके। अलका, मालविका और देवसेना ऐसी ही सन्नारियाँ हैं। यह प्रसाद की कुशलता है कि इनके सम्पर्क में रखकर अपने पात्रों को वह ऐसी स्थिति तक गिरने ही नहीं देते जहाँ से वे ऊपर उठ न सकें। इन व्यक्तियों को लाकर प्रसाद ने देश और काल तत्त्व की भी रक्षा कर ली है और मानवता का आदेश भी सुरक्षित रख लिया है।

प्रसाद की नाट्यकला में आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय तो

है ही परन्तु उसमें एक विशेषता और भी है। वह है सुखान्त और दुखान्त के सम्बन्ध में उनकी भावना।

प्रसाद की सुखान्त-भावना

जीवन सुख और दुख दोनों का सम्मिश्रण है। नाटक में भी दोनों का चित्रण होता है। भारतीय परम्परा नाटक को सुखान्त रखने की पक्षपाती है क्योंकि यहाँ की विचारधारा सदैव आदर्श से परि-प्लावित रही है। संस्कृत नाटककारों ने अपनी रचनाओं के नायक और नायिकाओं को ऐसे वर्ग में से चुना है जो फलप्राप्ति के अधिकारी हैं। अतएव नाटक के अन्त में उन्हें फलागम के साथ सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रयत्न से लेकर फलागम तक कथा-विकास में कहीं दुख की अवतारणा ही न हो ऐसा नहीं है। पात्रों को अनेक कष्टों और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि नियताप्ति अवस्था तक भावी परिणाम अनिश्चित ही रहता है। अतएव जीवन की सफलता और असफलता आशा और निराशा का संघर्ष उसमें विद्यमान रहता है। संस्कृत के ये नाटककार अपने कथानक को इस प्रकार रखते थे कि दुख की अवस्था का अन्त फलागम से पहले ही हो जाता है। यही कारण है संस्कृत का प्रत्येक नाटक सुखान्त है, उसमें पाश्चात्य अर्थी दुखान्त नाटक का नितान्त अभाव है। अंगरेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में उन दुखान्त नाटकों की परिपाटी भी चल निकली थी जिनमें नायक या नायिका अथवा दोनों ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनका यह अन्त जीवन संग्राम और संघर्ष का परिणाम होता है। अतएव अँगरेजी धारणा दुखान्त नाटक के सम्बन्ध में यही है कि नाटक के पात्रों का अन्त मृत्यु अथवा कठोर असफलता में हो।

प्रसाद ने इस दुखान्त भावना को बिलकुल बदल कर उसमें दार्शनिकता का पुट दे दिया। उन्होंने कर्तव्य को सर्वोपरि मान कर

आत्मसंतोष को उसका परिणाम माना। जब तक अपने कर्तव्य-पालन के द्वारा व्यक्ति संतोष और शान्ति प्राप्त करता है तब तक वह शान्ति सुख की द्योतक है दुख की नहीं चाहे यह शान्ति प्राणरक्षा में प्राप्त हो अथवा मृत्यु में। उनकी दृष्टि में आत्मा का असंतोष ही सब से बड़ा दुख है और वही दुखान्त विभीषिका का सूचक है। इस दुख का कारण प्रसाद जी मनुष्य के अपने कार्य ही मानते हैं क्योंकि संसार की सृष्टि विषमता के लिए नहीं हुई। विभिन्नता में एकता सृष्टि का मूलमंत्र है, प्राणी मात्र में समता और प्रत्येक के प्रति सहानुभूति एवं करुणा उसका साधारण व्यापार है। प्रकृति के इस नियम में बाधा डालने वाली वस्तु मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा है, दूसरे को दबाकर, उसकी स्वतंत्रता का अपहरण कर उस पर अपना अधिकार करने की लालसा है। *अजातशत्रु* और *स्कन्दगुप्त* में सम्राटों की छोटी रानियों की राजमाता बनने की महत्त्वाकांक्षा ही समस्त नाटक की घटनाओं का केन्द्र बन जाती है। *नागयज्ञ* में यदि काश्यप और राजा में विरोध न बढ़ जाता तो इतना उत्पात न होता परन्तु एक बार विषमता उत्पन्न होने से प्रत्येक पक्ष अपने को बलशाली कर दूसरे का विरोध करने के लिए विवश हो गया। काश्मीर के राजा नरदेव नाग सरदार सुश्रवा की सम्पति का अपहरण कर अशान्ति का बीज बोते हैं। ध्रुवस्वामिनी के साथ रामगुप्त का अवांछित अधार्मिक व्यवहार ही सारी कथा-वस्तु का कारण बनता है। यदि ये कमज़ोरियाँ न होतीं तो इन नाटकों का जन्म न होता और न भारतीय इतिहास का वर्तमान रूप ही रह पाता।

प्रसाद जी ने अपनी कल्पना और नाट्य-कुशलता द्वारा ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें अपराध करने वाला स्वयं अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर पश्चात्ताप करता है और यदि अपने कृत्यों के कारण उसे मृत्यु का सामना करना पड़ता है तो वह भी बड़े संतोष और हर्ष से उसे ग्रहण करता है। उस अवस्था में उसका

अवसाद सुख का रूप धारण कर लेता है और उसे असीम आत्म-संतोष की प्राप्ति होती है। नरदेव का अभूतपूर्व त्याग, बिंबसार की मृत्यु, बन्धुल की हत्या पर मल्लिका की दशा, भटार्क की हत्या, स्कन्द का राज त्याग, चाणक्य का वन-गमन और रामगुप्त की मृत्यु आदि सभी प्रसंग जो नाटकों को अन्यथा दुखान्तरूप दे सकते थे इसी प्रकार की सुखान्त भावना पर अवलंबित है।

प्रसाद की इस सुखान्त भावना में आत्म-शोध और सत्य की खोज की दार्शनिकता छिपी है अतएव इस नवीनता का सौंदर्य केवल उन्हीं को अनुभव हो सकता है जो सांसारिक स्तर से उठ कर आत्मिक स्तर पर पहुँच जाते हैं। मानवी भावों और आदर्शों में इस उदात्तवृत्ति का सृजन प्रसाद की अनुपमता और विश्वकल्याण के प्रति उनकी विशाल-हृदयता की सूचना है। और हिन्दी नाटकों के लिए तो यह एक अनुपम देन है ही।

प्रसाद के गीत

प्रसाद के गीतिकाव्य ने उनकी नाट्यकला में और अधिक सुन्दरता की श्रीवृद्धि की है। उनके गीत केवल कल्पना-प्रसूत नहीं हैं। वे मानवीय भावनाओं की अनुभूति हैं जिन्होंने परिस्थिति विशेष में उन्हें गाने वाले पात्र के चरित्र के उद्‌घाटन में भी सहायता दी है।

विशाख के पहले ही गीत को देखिए। पता चलता है गुरुकुल से निकले हुए नये स्नातक, संसार की कठोर वास्तविकता से अनभिज्ञ मनुष्य, की विचारधारा किस ओर बहती है। शैशव का अभाव उसे कहाँ ले जाता है। उसे उस समय की याद आती है जब कल्पना की कोयल आनन्द में मस्त हो मंगलमय गीत गाती। परन्तु आज जब वह कर्म की कठोर भूमि पर खड़ा है तो उसकी आँखों के सामने काले अन्धकार का एक पर्दा पड़ जाता है। यह गीत विशाख के मन में

उत्पन्न होने वाले भावों का स्पष्ट पृष्ठ है जो उसके जीवन इतिहास को ला कर हमारे सामने खोल देता है।

पद्मावती का गीत

'निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह सी
निकलेगी निस्सार।'

उसकी असहाय परिस्थिति का कितना व्यंजक है। जिस व्यक्ति के ऊपर चारों ओर से प्रहार पर प्रहार हो रहे हैं उसके पीड़ित हृदय को सान्त्वना देने वाली वस्तु और कौन सी है। जिसका पति ही उसके विपरीत हो गया उसका तो संसार ही लुट गया। पद्मावती के उसी अवसाद-पूर्ण एकांकी नीरव हृदय की वेदना इस गीत में साकार हो उठी है। कितनी उदारता है उसमें जब वह अपनी पीड़ा को दूसरों के सामने नहीं प्रगट होने देना चाहती। उसे डर है कहीं उसकी उँगलियाँ स्त्रिजनोचित लज्जा को व्यक्त न कर दें।

'निर्जन गोधूलि' वाला श्यामा का गीत भी कितना मनोहर और परिस्थिति-उपयोगी है। श्यामा और शैलेन्द्र की प्रणयकथा उसमें भभकती हुई ज्वाला के समान चमक रही है। समस्त गीत को पढ़कर दोनों के प्रणय का इतिहास आँखों के सामने आ जाता है। जीवन की महत्त्वाकांक्षा में असफल होने वाली श्यामा के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व की जो आँधी चल रही है उसकी करुणा-पूरित विवशता इस गीत में शब्द-बद्ध है। श्यामा एकान्त आधिपत्य की इच्छुक है परन्तु वह उसे मिलता नहीं। कैसी है विधि की विडम्बना !

देवसेना के गीत तो नारी-हृदय का सचित्र इतिहास हैं। एक ओर उनमें प्रेमी का रंग है, पुरुष के गुणों पर रीझ कर उस पर अधिकार कर अपना सर्वस्व निछावर करने की अभिलाषा है और दूसरी

और कर्तव्य का पालन करते हुए त्याग का मूर्तिमान अंकन है। एक उसके जीवन का पूर्वार्ध है और दूसरा उत्तरार्ध।

'भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप!'

देवसेना के ये शब्द उस व्यक्ति के प्रति उसके आकर्षण के सूचक हैं जो उसके भाई की सहायता के लिए और उसके देश की शत्रुओं से रक्षा करने के लिए आया है, जो वीर है और समस्त गुणों से सम्पन्न है। फिर भला प्रथम दर्शन पर ही हृदय आकर्षित क्यों न हो? परन्तु उसके और कुमार स्कन्द के प्रणय के बीच में एक नई बाधा उपस्थित हो जाती है। वह है विजया। प्रेम का स्रोत प्रवाह थोड़ा कुंठित हो जाता है। देवसेना सोचती है विजया स्कन्द से प्रेम करती है। ऐसी अवस्था में किसी नारी को उसके प्रेम से वंचित करना उचित नहीं। बस यहीं से उसका त्याग आरंभ होता है। एक बार उसका हृदय पुकार मचाता है परन्तु देवसेना उसे मनाने का सतत प्रयत्न करती है।

"आह! वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।
... ...
... ...
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे
इसने पन की लाज गँवाई।"

यह गीत केवल गीत मात्र नहीं है। यह देवसेना की आत्म-कहानी है। प्रसाद के अतिरिक्त कौन इस प्रकार कागज पर दिल निकाल कर रखने की क्षमता रखता था।

चन्द्रगुप्त नाटक में सुवासिनी के गीत और *ध्रुवस्वामिनी* में मन्दा-

किनी के गीत भी ऐसे ही हैं जो इन स्त्रियों की आन्तरिक स्थिति के द्योतक हैं। अपने कुछ गीतों में प्रसाद ने प्रेम और सौंदर्य के बड़े सजीव वर्णन किए हैं।

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते,
हे लाज भरे सौंदर्य! बता मौन बने रहते हो क्यों?

सुवासिनी के उपरोक्त गीत में सौंदर्य और यौवन के संकेत का कितना भावपूर्ण वर्णन है!

प्रसाद के गीतों की विशेषता यही है कि वे शुद्ध काव्य भी हैं और परिस्थिति-विशेष का उद्‌घाटन करने वाले भाव-चित्र भी। उनके द्वारा गद्य-संभाषण सुनते सुनते दर्शकों और पाठकों की एकरसता भी भंग हो जाती है और वस्तु-विन्यास एवं चरित्र भी स्पष्ट हो जाता है। वे संगीत के भी रक्षक हैं और मनोरंजकता के प्रचारक भी। उनमें मानवी प्रेम भी है और ईश तथा देश-प्रेम भी। प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटककारों में गीतिकाव्य की ये विशेषतायें और नाटक में उनकी उपयोगिता इस सीमा तक नहीं पहुँची। प्रसाद के गीतों ने नाटकों को वास्तविक 'दृश्य-काव्य' का रूप दे दिया है।

प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, सांकेतिक और समस्या-परम्पराओं को अपनाया है। यद्यपि ऐतिहासिक परम्परा की उनमें प्रधानता है परन्तु अन्य दोनों के प्रतिनिधि *कामना* और एक घूँट भी किसी प्रकार हेय नहीं हैं। अपनी नवीन वस्तु-विन्यास-योजना, शैली, भाषा-सौष्ठव गीति-सामंजस्य और उदात्त भावनाओं एवं भावुकता तथा दार्शनिकतापूर्ण संवादों से उन्होंने जिस नूतन सृष्टि का निर्माण किया है वह हिन्दी साहित्य के

गौरव की वस्तु है।

यह तो केवल एक दैवी घटना ही है कि नाटकों का श्रीगणेश करने वाले भारतेन्दु और उसे चरमोत्कर्ष पर ले जाने वाले प्रसाद दोनों भगवान शंकर की नगरी काशी के अधिवासी थे।

प्रसाद का समकालीन नाटक-साहित्य

प्रसाद के पूर्व जो नाटकों के रूप और उनकी शाखायें प्रति-शाखायें चली आ रही थीं उनमें केवल थोड़ा सा परिवर्तन संख्या या मात्रा की दृष्टि से हो गया अन्यथा साहित्यिक नाटकों की परम्परायें पूर्वरूपानुसार चलती रहीं।

यह आश्चर्य की बात है कि प्रसाद की रचनाओं का व्यापक प्रभाव किसी लेखक पर नहीं दिखाई देता। कम के कम ऐतिहासिक नाटक-धारा पर तो यह स्पष्ट पड़ना ही चाहिए था। संभव है इसके दो कारण हों। प्रसाद का व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उसने दूसरों के व्यक्तित्व को अपने अन्दर छिपा लिया था। जिस प्रकार सूर और तुलसी की रचनाओं के पश्चात् उनके प्रतिपादित विषयों पर लिखे गए अन्य ग्रन्थों पर विशेष ध्यान नहीं जाता ठीक उसी प्रकार प्रसाद की रचनाओं के पश्चात् ऐतिहासिक नाटकों को पढ़ने की रुचि नहीं होती। अन्य लेखकों में उस 'सब' का अभाव है जो प्रसाद जी की रचनाओं में भरा पड़ा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रसाद के अति-रिक्त हिन्दी लेखकों में इतना अध्ययन और मननशील लेखक नहीं हुआ जो अपने उद्योग से इस बुद्धिवादी युग में शिक्षित समुदाय के सामने कोई नवीन वस्तु रखता। यों तो देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ भी किसी अंश तक जनता को अपने में ही व्यस्त रखने के कारण इस अभाव के कारणों में गिनाई जा सकती हैं परन्तु यह कोई बलशाली तर्क नहीं है। साहित्य का सृजन स्थितियों के विपरीत

भी हुआ है। प्रसाद के युग में उनके समकालीन लेखकों ने जो साहित्य सृष्टि की वह अधिकतर रंगमंचीय साहित्य था।

साहित्यिक नाटकों की परम्परा में निम्नलिखित परिवर्तन और परिवर्धन हुए :—

रामचरितधारा प्रायः नहीं के बराबर रही। इसके अन्तर्गत केवल दो नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है—दुर्गादत्त पांडे कृत *राम नाटक* (१९२४) और कुंदनलाल शाह का *रामलीला नाटक* (१९२७)। *रामनाटक* की रचना साहित्यिक दृष्टि से न होकर कार्य-व्यापार की दृष्टि से हुई है। लेखक ने समस्त घटनाओं का अभिनय १५ दिन में पूरा किया है। प्रत्येक दिन के अन्तर्गत उन्होंने कुछ दृश्य निर्धारित कर दिए हैं, जैसे प्रथम दिन में १८ दृश्य हैं और दूसरे दिन में ८ दृश्य। प्रत्येक दृश्य एक छोटी घटना है। पात्र अधिकतर कविता में बात करते हैं और कहीं कहीं गद्य का भी प्रयोग हो जाता है।

वास्तव में यह नाटक राम-लीला ही की दृष्टि से लिखा गया है। साहित्यिक नाटक तत्त्व इसमें नहीं रखे गए।

शाह जी का नाटक भी कुछ इसी प्रकार का है। उसमें कार्य-व्यापार अंकों में विभाजित है। अन्य लक्षण दोनों में एक से हैं।

पं० ललिताप्रसाद त्रिवेदी 'ललित'—रसिक-समाज कानपुर के भूतपूर्व सभापति—का *सुमति मनरंजन नाटक* भी उपरोक्त दोनों नाटकों जैसी रचना है। कानपुर की ओर जो रामलीला होती है उसका मूल आधार यही नाटक है।

कृष्ण-धारा में केवल एक ही नाटक उल्लेखनीय है। वह है हरि प्रसाद 'वियोगी हरि' लिखित *छद्मयोगिनी* (१९२३)। भगवान कृष्ण की छद्मलीला वाली कथा के आधार पर इसकी रचना हुई है। इसमें नाटक के सब गुण हैं परन्तु कविता की अधिकता और कार्य-व्यापार की कमी है जिसके कारण यह भक्ति भावना का अच्छा पठनीय दृश्य-

काव्य मात्र रह गया है। जयपुर निवासी मथुरादास का *रुक्मिणी परिणय* (१९१७) बहुत ही साधारण नाटक है।

अन्य *पौराणिक आख्यान धारा* में निम्नलिखित नाटक लिखे गए :—

मैथिलीशरण गुप्त कृत *तिलोत्तमा* (१९१६) और *चन्द्रहास* (१९१६) तथा *अनघ* (१९२५); विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कृत *भीष्म* (१९१८); शिवनंदन मिश्र कृत *उषा* (१९१८); द्वारिकाप्रसाद गुप्त कृत *अज्ञात वास* (१९२१); बद्रीनाथ भट्ट का *बेन चरित्र* (१९२१); मिश्रबंधुओं का *पूर्व-भारत* (१९२२) और *उत्तर-भारत* (१९२३); सुदर्शन कृत *अंजना* (१९२२); हरद्वारप्रसाद जालान कृत *क्रूर बेन* (१९२४); बलदेवप्रसाद मिश्र कृत *असत्य-संकल्प* (१९२५) और *वासना वैभव* (१९२५); गोविंदवल्लभ पंत कृत *वरमाला* (१९२५); जगन्नाथशरण का *कुरुक्षेत्र* (१९२८); गोपाल दामोदर तामस्कर कृत *दलीप* (१९२९) एवं कामताप्रसाद गुरु कृत *सुदर्शन* (१९३१)।

उपरोक्त नाटक-लेखकों में पं० बद्रीनाथ भट्ट, सुदर्शन और गोविंदवल्लभ पंत के नाटक साहित्यिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

मैथिलीशरण की *तिलोत्तमा* पौराणिक आख्यान को लेकर लिखी गई है। बलशाली सुन्द और उपसुन्द दानवों से जब देवता भय खाने लगे तो उनके विनाश में संलग्न हुए। सदा की भाँति ब्रह्मा जी उनके सहायक बने। तिलोत्तमा नामक अप्सरा की सृष्टि हुई। इस अद्भुत सुन्दरी को देखकर, जिसका तिल तिल अंश सौंदर्य का आगार था, दोनों दानव उससे विवाह प्रस्ताव करने लगे। इसी अवसर पर तिलोत्तमा ने कहा जो उनमें से अधिक बलशाली होगा उसी से वह विवाह सम्बन्ध कर लेगी। दोनों दानव अपनी अपनी शक्ति के गर्व में एक दूसरे पर आघात कर मृत्यु को प्राप्त हुए। देवताओं का काम बन गया। इस नाटक में कार्य-व्यापार में बड़ी शिथिलता है जिसके

कारण नाटक नाटक न रह कर एक नाटकीय कविता मात्र रह गया है। इस दृष्टि से यह हिन्दी साहित्य के लिए नवीन वस्तु है। नाटक का विधान प्राचीन संस्कृत परम्परा के अनुगत है।

अनव एक भाव-नाट्य है और प्रसाद के *करुणालय* वाली परंपरा का द्योतक है।

चन्द्रहास में भक्त बालक चन्द्रहास का चित्र है। नाटक में गांधीवाद का पूर्ण पुट है। नाटकीय दृष्टि से चन्द्रहास की पत्नी विषया और उसकी भाभी का परस्पर व्यंग्य बहुत सुन्दर है।

बद्रीनाथ भट्ट के नाटक में वेन के क्रूर चरित्र का वर्णन है। इसके विषय में चौथे अध्याय में लिखा ही जा चुका है। सुदर्शन की *अंजना* और गोविंदवल्लभ पंत की *वरमाला* इस धारा के बहुत उत्कृष्ट नाटक हैं।

सुदर्शन की *अंजना* सब दृष्टि से सफल नाटक है। इसमें पति-परायणा अंजना और पवन के प्रेम की कथा है। पौराणिक आख्यानों में इस कथा की बड़ी प्रसिद्धि है। जैन ग्रन्थों तक में अंजना का चरित्र वर्णित है। अंजना महेंद्रपुर के राजा महेंद्रराय की पुत्री है। उसकी माता का नाम हृदय-सुन्दरी है। पवन राजा प्रह्लाद विद्याधर का पुत्र है। उसकी माता का नाम केतुमती है। अंजना के साथ पवन के विवाह की बात होती है और अन्त में वह हो भी जाता है परन्तु विवाह से पहले पवन की अंजना को देखने की इच्छा और इसी प्रसंग में अंजना की वाटिका में उसकी सखी का एक व्यंग्य पवन को १२ बरस तक अंजना का मुख न देखने की प्रतिज्ञा के लिए बाध्य करता है। १२ बरस के पश्चात् एक बार रावण और वरुण के युद्ध में उसे वरुण की सहायता के लिए जाना पड़ता है। अपने सखा प्रहसित के कहने से वह दो दिन छिप कर अंजना के पास रहता है और हनुमान के जन्म का कारण बनता है। केतुमती अपनी पुत्र-वधू पर पाप का कलंक

लगा कर घर से निकाल देती है और यही हाल उसका अपनी माँ के घर होता है। अपनी सखी वसंतमाला के साथ वह वन की राह लेती है। वहीं हनुमान का जन्म होता है। अन्त में सब कुछ स्पष्ट हो जाता है और संकट की अवस्था संयोग में परिणत होकर सुख का कारण बनती है।

लेखक ने अपने वस्तु-विन्यास को बड़ा जटिल बना दिया है। उनमें एक पेंच के अन्दर दूसरा पेंच दिखाई देता है जिसके कारण वस्तु का अनावश्यक विस्तार हो गया है। कहीं-कहीं भावुकता की भी गहरी छाप संवादों पर लगी हुई है। लंबे भाषणों को छोटा कर नाटक अभिनय और साहित्य दोनों दृष्टि से सुदर्शन जी की सफल रचना है।

गोविंदवल्लभ पंत की *वरमाला* भी एक सुन्दर रचना है। भू-मंडल के राजा करंधम का पुत्र अनीक्षित विदिशा की राजकुमारी वैशालिनी से पहले प्रेम करता है और उसका प्रतिदान पाने की अभिलाषा से एक दिन छिपकर राजकुमारी के उपवन में पहुँच जाता है। उससे प्रेम करते हुए भी राजकुमारी अनीक्षित के इस व्यवहार पर रुष्ट होती है और उसके प्रेम का केवल तिरस्कार ही नहीं करती वरन उस से कह देती है—'प्रेम करती हूँ; लेकिन तुम से नहीं, तुम्हारी घृणा से।' इस अपमान से विचलित हो अगले दिन वैशालिनी के स्वयंवर के समय अनीक्षित अपने बाहुबल से उसका अपहरण करता है। स्वयंवर की वरमाला वैशालिनी के हाथ ही में रह जाती है। मार्ग में फिर दोनों का तर्क-वितर्क अनुनय-विनय होती है परन्तु वैशालिनी अपने प्रण पर दृढ़ रहती है। इसी बीच में अनीक्षित जल लेने नदी के किनारे जाता है; ग्राह उसे निगलने दौड़ता है। वैशालिनी यह देखकर अनीक्षित के धनुष पर एक बाण रखकर ग्राह की हत्या कर उसकी रक्षा करती है। अनीक्षित का पीछा करते-करते राजा विशाल (वैशालिनी के पिता)

वहाँ पहुँचते हैं। अनीक्षित क्षत-विक्षत होकर बन्दी बनाया जाता है और दोनों विदिशा नगरी में ले जाये जाते हैं। वैशालिनी की सेवा-शुश्रूषा से अनीक्षित स्वास्थ्य-लाभ करता है; उसके पिता विदिशा पर आक्रमण करते हैं परन्तु सच्ची बात का पता चलने पर दोनों की इच्छा होती है अनीक्षित और वैशालिनी के विवाह-संबंध की। अब वैशालिनी चाहती है तो अनीक्षित उससे प्रेम नहीं करता।

वैशालिनी अनेक कष्ट सहन कर तपस्या करती है। एक बार अब अनीक्षित अनजाने एक वन में वैशालिनी की रक्षा करता है। इस वार वैशालिनी की प्रार्थना सफल होती है और दोनों प्रेम-बंधन में बँधते हैं। उसी समय मुरझाई हुई वरमाला जो वैशालिनी हर समय अपने साथ रखती थी अनीक्षित के हृदय को सुसज्जित करती है। यही *वरमाला* है।

पंत जी का वस्तु-विन्यास सीधा और सरल है। आख्यान में रोमान्स की छाया अधिक है परन्तु वार्तालाप बड़ा उपयुक्त और सतेज है। भावुकता की छाप होने से *वरमाला* नाटक प्रसाद के नाटकों से बहुत मेल खाता है।

मिश्रबंधुओं के *पूर्व-भारत* में *महाभारत* की आदि पर्व से लेकर विराट पर्व तक (उत्तरा-विवाह तक) की कथा आगई है। कहीं-कहीं कथानक के विकास में कल्पना का प्रयोग भी हुआ है जो आवश्यक है। कविता की भाषा ब्रजभाषा है। नागरिकों की भाषा में कहीं-कहीं पूरबी बोली के समावेश से अधिक रोचकता आगई है। *उत्तर-भारत* में विराट पर्व के पश्चात् की कथा है। दोनों नाटक मध्यम श्रेणी के नाटक हैं।

बलदेवप्रसाद जी के नाटकों में कार्य-व्यापार की कमी तो है ही उनके कथा-संबंध का निर्वाह भी शिथिल है। *असत्य संकल्प* में हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद का कथानक है और *वासना-वैभव* में ययाति के यौवन-मोह की कथा है।

कामता प्रसाद का *सुदर्शन* अनेक पहेलियों का विचित्र गोरख-धंधा है। इसकी कथा देवी *भागवत* के तीसरे स्कंध पर अवलम्बित है। कथानक में यथेष्ट परिवर्तन किया गया है।

इस धारा के नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक अपने कथानक के लिए पौराणिक आख्यान मात्र ले लेते हैं। उनके पात्रों और कुछ घटनाओं का रूप तो ज्यूँ का त्यूँ रहता है परन्तु विषय का प्रतिपादन उन्होंने अपने विचार से किया है। प्रति-पादन में देश की लेखक-कालीन राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट और गहरा है। वास्तव में यदि नामावली को निकाल दिया जाय तो नाटक समस्या-नाटकों का रूप धारण कर लें। यह पता भी न चल पाये कि कथानक कहाँ से लिए गए हैं।

अतएव पुरातन को नूतन की दृष्टि से देखना इन अधिकांश नाटकों का प्रधान लक्ष्य है।

ऐतिहासिक धारा में उल्लेखनीय नाटक हैं—सुदर्शन कृत *दयानंद* (१९१७); बलदेवप्रसाद मिश्र कृत *मीराबाई* (१९१८); बेचन शर्मा उग्र कृत *महात्मा ईसा* (१९२२); चन्द्रराज भंडारी कृत *सिद्धार्थ कुमार* (१९२२) और *सम्राट् अशोक* (१९२३); प्रेमचन्द कृत *कर्बला* (१९-२४); बद्रीनाथ भट्ट की *दुर्गावती* (१९२६); लक्ष्मीधर वाजपेयी का *राजकुमार कुन्तल* (१९२८); जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का *प्रताप-प्रतिज्ञा* (१९२८); वियोगी हरि कृत *प्रबुद्ध-यामुन* (१९२९); कृष्णकुमार मुख्योपाध्याय कृत *तुलसीदास* (१९२९); उदयशंकर भट्ट कृत *चन्द्रगुप्त मौर्य* (१९३१) और *विक्रमादित्य* (१९३३); गोविंददास का *हर्ष* (१९३५)।

इन नाटकों में *दयानंद*, *मीराबाई*, *महात्मा ईसा* और *प्रबुद्ध-यामुन* संत चरित्रों को लेकर लिखे गए हैं और इन माहात्माओं की जीवन-घटनाओं. उनके कष्टों और उनकी दृढ धार्मिक भावना को व्यक्त करते

हैं। अतएव ये चरित्र-प्रधान नाटक हैं। *महात्मा ईसा* इनमें विशेष ध्यान देने योग्य है। महात्मा ईसा की अन्य जीवन घटनाओं के साथ लेखक ने पहले ही दृश्य में यह दिखलाया है कि महात्मा ईसा संन्यासी के वेश में पुण्यपुरी काशी में प्रवेश करते हैं और अपने गुरु विवेकाचार्य का आश्रम खोजते हैं।

प्रथम अंक के चौथे दृश्य से यह भी पता लगता है कि ईसा को अपनी माता को छोड़े १२ वर्ष हो गये हैं और वह उसे देखने के लिए व्याकुल है परन्तु जोजेफ आगर मरियम से यही कहते हैं—'ईसा को हमने धर्मपिता की आज्ञानुसार आर्यभूमि भारत भेज दिया है। बारह वर्ष हो गए। वह वहाँ पर, इसी यज्ञ में बलिदान दिये जाने के लिए शुद्ध किया जा रहा है। मेरा पुत्र स्वदेश पर बलिदान चढ़ने के लिए तैय्यार हो रहा है। कैसा गौरवमय संवाद है मरियम! ज़रा सोचो तो।'

महात्मा ईसा भारत में आए थे और यहाँ की शिक्षा दीक्षा से प्रभावित हुए थे। कुछ लोग इस घटना के सत्य पर विश्वास करते हैं। उसी का आधार लेकर उग्रजी ने अपना नाटक लिखा है। नाटक में ईसा की मृत्यु के पश्चात् हेरोद की मृत्यु और आकाश में अलक्षित रूप में ईसा की मूर्ति दिखाई गई है।

यह नाटक साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों दृष्टि से सफल है। सम्बन्ध-निर्वाह और कार्य-व्यापार में अच्छा समन्वय है। संवादों में सजीवता है। वीर, करुण और शान्त रस का सफल प्रयोग है। देश पर बलिदान हो जाने वाली राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव इस पर भी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। 'स्वाधीन हमारी माता है' तथा 'है प्राण-प्यारा सुदेश हमारा' एवं 'जय उदार, सृष्टि सार, स्वर्गद्वार-देश! पुण्यमय स्वदेश!' आदि गीत राष्ट्रीय गान के द्योतक हैं और 'प्रेम की माला हो संसार' तथा 'देखा प्रेममय संसार' उस हिन्दू-मुसलिम एवं सर्वजातीय एकता के प्रतीक हैं जो उस समय की प्रधान चिंताधारा थी।

'मिलिंद' का *प्रताप-प्रतिज्ञा* भी इसी स्वदेश-प्रेम की भावना से सराबोर है। यद्यपि इसमें महाराणा प्रताप की प्रसिद्ध घटनायें चित्रित की गई हैं—शक्तिसिंह का भ्रातृ-द्वेष, भामाशाह की स्वामिभक्ति, राज-पुरोहित की आत्म-हत्या, हल्दीघाटी का युद्ध आदि—परन्तु सब का संदेश वही है—देश की स्वतंत्रता पर बलिदान होने की अभिलाषा !

लेखक की लेखनी में शक्ति है और कल्पना में बल। वीरता, उल्लास, उत्साह और त्याग के अपूर्व चित्र इस नाटक में अंकित हुए हैं। वस्तु-विन्यास का विकास भी बड़ा स्वाभाविक है। तत्कालीन नाटकों में ही नहीं वरन चोटी के हिन्दी नाटकों में *प्रताप-प्रतिज्ञा* का नाम रखना ही पड़ेगा।

प्रेमचन्द जी का *कर्बला* मुसलिम सभ्यता से सम्बन्ध रखता है और उसमें कर्बला की लड़ाई का चित्रण है। प्रेमचन्द जी ने उस युद्ध के इतिहास को नाटक-बद्ध अवश्य किया है परन्तु उसमें वह नाटककार की दृष्टि से सफल नहीं हुए हैं। उन हिन्दुओं के लिए जो हसन-हुसैन की इस लड़ाई से अवगत नहीं थे यह पुस्तक अवश्य उपयोगी है।

उदयशंकर भट्ट के नाटक नाट्यकला की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। उनसे पता चलता है कि लेखक की यह आरंभिक कृतियाँ उसके भावी मार्ग को केवल प्रशस्त कर रही हैं।

गोविंददास का हर्ष स्थाणीश्वर के राजा शिलादित्य हर्ष की जीवन-घटनाओं का नाटक है। प्रसाद जी के *राज्यश्री* के कथानक को इससे पूर्णता मिलेगी। नाटक की दृष्टि से तो यह सुन्दर नाटक है ही।

प्रस्तुतधारा के नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी उस समय की देश-प्रेम भावना से अधिक ओतप्रोत हैं।

राष्ट्रीय धारा के भी कुछ नाटक इस समय लिखे गए। इनमें उल्लेखनीय हैं—काशीनाथ वर्मा का *समय* (१९१७); प्रेमचन्द का *संग्राम* (१९२२); कन्हैयालाल कृत *देश-दशा* (१९२३) और लक्ष्मण-

सिंह कृत *गुलामी का नशा* (१९२४)। इनमें प्रेमचन्द का *संग्राम* वास्तव में नाटक होते हुए भी अपनी चिंताधारा का प्रतिनिधि नाटक है। किसान, ज़िमीदार और पुलिस के तीनों वर्ग अपने अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए दिखाये गए हैं। अन्त में किसानों की जीत होती है, ज़िमीदारी को हटाकर सरकार से उनका सीधा संबंध होता है और दरिद्रता के स्थान पर सुख का साम्राज्य छा जाता है।

कांग्रेस के आदर्श की प्रतिच्छाया इस नाटक में प्रस्तुत की गई है। इस धारा के अन्य नाटक रंगमंचीय श्रेणी के हैं जिनका उल्लेख पाँचवें अध्याय में हो चुका है।

समस्या-नाटक धारा की प्रमुख रचनायें हैं—गोपाल दामोदर तामस्कर कृत *राधा-माधव* (१९२२); जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी कृत *मधुर-मिलन* (१९२३); छविनाथ पांडे कृत *समाज* (१९२९); अनंदी-प्रसाद श्रीवास्तव कृत *अछूत* (१९३०); जयगोपाल कविराज कृत *पश्चिमी प्रभाव* (१९३०); घनानंद बहुगुणा का *समाज* (१९३०); लक्ष्मीनारायण मिश्र के *संन्यासी* (१९३१), *राक्षस का मंदिर* (१९३१) और *मुक्ति का रहस्य* (१९३२); नरेन्द्र कृत *नीच* (१९३१); आनन्द-स्वरूप जी महाराज का *संसार चक्र* (१९३२) तथा प्रेमचन्द्र का *प्रेम की वेदी* (१९३३)।

इन नाटकों के विषय वैसे तो नाम से ही प्रतीत हो जाते हैं परन्तु उनमें किसी में कर्मयोग का वर्णन है, किसी में गुंडों के हथकंडों की कथा है; कुछ में अछूतोद्धार की समस्या है। *संसार चक्र* में धार्मिक और साम्प्रदायिकता का पुट है। *प्रेम की वेदी* में एक मध्यम ईसाई परिवार का दृश्य है। दूसरी ओर योगराज नामक पुरुष की अल्पज्ञता और अधिक भोगलिप्सा के परिणाम-स्वरूप उसकी स्त्री उमा की मृत्यु भी दिखाई है। यह नाटिका विवाह की समस्या को लेकर चली है। जेनी ईसाई होते हुए योगराज से विवाह करना चाहती है परन्तु धर्म

बाधक होता है। उसका एक प्रेमी विलियम भी है। यद्यपि वह आरंभ में उसी से प्रेम करता है परन्तु अन्त में उसका विवाह जेनी की माता से हो जाता है। समस्या यही है कि प्रेम की वेदी पर किसका बलिदान दिया जाय ? एक ओर व्यक्तिगत इच्छामय प्रेम है और दूसरी ओर धर्म का सांसारिक बाह्यरूप।

जेनी कहती है 'लोगों ने यह तरह तरह के मत बना कर संसार में कितना विष बोया है, कितनी आग लगाई है, कितना द्वेष फैलाया है। क्या धर्म इसीलिए आया है कि आदमियों की अलग अलग टोलियाँ बना कर उसमें भेद-भाव भर दे ? ऐसा धर्म लुटेरों का हो सकता है, स्वार्थियों का हो सकता है, मूर्खों का हो सकता है, ईश्वर का नहीं हो सकता।'

अन्त में जेनी की माँ अपनी पुत्री को योगराज से विवाह करने की आज्ञा सहर्ष भाव से देती है और जेनी भी हर्ष का अनुभव करती है। परन्तु लेखक ने यह नहीं दिखाया कि अन्त हुआ क्या ? नाटक के बीच ही में एक तार द्वारा उसने जेनी को योगराज की मृत्यु की सूचना दिला दी है। माता की आज्ञा मिल जाने पर अन्त में जेनी कहती है—'......खुदा का धर्म प्रेम है और मैं इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ, शेष धोखा है। आप फौरन मोटर मँगवाइए......मैं......मोटर से जाऊँगी। सबेरे तक पहुँच जाऊँगी। वहीं प्रभात के शुभ मुहुर्त में रज्जन से मेरा विवाह होगा, बड़ी धूमधाम के साथ, हवनकुण्ड की परिक्रमा करके, श्लोक और मन्त्र पढ़कर। मेरे लिए आल्टर और हवनकुण्ड में कोई अन्तर नहीं रहा। मुझे शक्ति दो ईश्वर ! कि आजीवन इस व्रत को निभा सकूँ............।'

प्रेमचन्द जी अपनी इस नाटिका में केवल मात्र आदर्शवादी होकर रह गए हैं। उनकी कथा का विकास सुचारु रूप से नहीं हो सका और यही कारण है कि उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण भी अधूरा ही रह गया है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों का इस धारा में विशेष स्थान है। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों में सुधार की आवश्यकता पर भारतेन्दुकाल के अनेक नाटककारों ने ध्यान दिया है। परन्तु व्यक्ति की समस्याओं पर सब से पहले मिश्र जी ने ही इतने उग्र रूप से लिखा है। भारतेन्दु के समकालीन सुधारक थे और केवल उपदेशप्रद दृश्यों के द्वारा अथवा दो विरोधी परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उनका परिणाम दिखाकर जनता में, समाज में परिवर्तन करना चाहते थे। मिश्रजी ने तर्क और बुद्धि को अपना शस्त्र बनाया है। वह समस्या की गहराई तक जाने का प्रयत्न करते हैं और वहीं से उसका कारण और समाधान खोजते हैं। उनका अस्त्र बुद्धि-विकास है और इसलिए उनके नाटकों की समस्यायें व्यक्तियों-विशेष की समस्यायें हैं, समस्त समाज की नहीं। व्यक्ति, समाज का अंग है केवल इसलिए समाज से उसका संबंध जोड़ा जा सकता है अन्यथा नहीं।

मिश्र जी के *संन्यासी* में दो समस्यायें प्रधान हैं—एक है नारी की समस्या। स्त्री को अपने व्यक्तिगत विवाह संबंध में, समाज में विचरण करने के लिए तथा संसार में अपना व्यक्तित्व बनाने के लिए क्या अधिकार मिलना चाहिए और कैसे? पुरुष का उस पर किस प्रकार अधिकार होना चाहिए और क्यों? मालती और किरणमयी की अवस्थाओं से उन्होंने इन पहलुओं पर प्रकाश डाला है। दीनानाथ, विश्वकान्त और मुरलीधर आदि पुरुष व्यक्ति भी इसी में सम्मिलित हैं। सबने एक वार अपने जीवन की विगत घटनाओं को बुद्धिवाद और सांसारिक उपयोगितावाद की कसौटी पर घिसा है। वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भावुकता एक आवरण है जिसे बुद्धि और विचारों द्वारा अलग कर देना चाहिए।

दूसरी समस्या है जातिरक्षा की। इसी के लिए विश्वकान्त और अफगानी अहमद आदि पात्र एक एशियाई संघ की स्थापना करने का

उद्योग करते हैं। इसकी आवश्यकता है वर्तमान की दासता से छूट कर स्वतन्त्रता के वातावरण में साँस लेने के लिए। *संन्यासी* में अहमद का व्यक्तित्व बड़ा सबल है।

इसी प्रकार *'राक्षस का मन्दिर'* और *'मुक्ति का रहस्य'* भी नारी समस्या के ही विषय को लेकर चले हैं। इनका विवरण आगे के अध्याय में दिया जायगा। यहाँ पर इतना लिखना ही पर्याप्त है कि मिश्रजी प्रसाद-युग का अपवाद हैं। समस्या-नाटकों में उनका अपना एक अलग स्थान है। उनकी कला और नाट्य-विधान एवं चिन्ता-धारा के विषय में समस्या-नाटक वाले अगले प्रसंग में विवेचन है।

प्रेम-प्रधान नाटक धारा में दुर्गादत्त पांडे का *चन्द्राननी* (१९१७), ब्रजनंदन सहाय का *उषांगिनी* (१९२५) और धनीराम का *प्राणेश्वरी* (१९३१) ही उल्लेख योग्य हैं।

उषांगिनी संस्कृत प्रणाली का नाटक है। लेखक प्रस्तावना वाला पुराना मोह छोड़ नहीं सका है। नाटक में संयोगात्मक और वियोगात्मक प्रेम की तुलना निस्वार्थ प्रेमोद्गार एवं स्वार्थ-परायण इन्द्रिय-लिप्सा से की गई है। नायक चुन्नीलाल और नायिका उषांगिनी के चरित्रों में निस्वार्थ प्रेम का चित्रण है और काशी के सौदागर बुलाकी एवं सुशीला में दाम्पत्य प्रेम प्रदर्शित है। बनारस के एक रसिक कन्हाई और विधवा मनोरमा का प्रेमाख्यान पाप कर्म से पूर्ण है।

लेखक का दृष्टि-कोण आदि से अन्त तक सुधारवादी का दृष्टि-कोण है। अतएव नाटक में स्वाभाविकता की अपेक्षा उपदेश का आधिक्य है। 'स्वगत' के प्रयोग भी पर्याप्त हैं। प्रेम का बहुमुखी प्रदर्शन मात्र ही इस नाटक का लक्ष्य है।

प्रसाद-युग में प्रेम-प्रधान नाटकों का यह सहसा अभाव कुछ खटकने वाला है।

प्रहसन के विषय में प्रायः एक परम्परा यह चल गई थी कि

प्रहसन का अंश या तो पृथक् रूप से नाटक में जोड़ दिया जाता था अन्यथा हँसी और व्यंग को मूल नाटक ही में परिस्थिति-अनुकूल स्थान दे दिया जाता था । प्रथम और दूसरा दोनों रूप रंगमंचीय नाटकों में अधिक मिलते हैं। उनकी शिष्टता, स्वाभाविकता, उपयोगिता और साहित्यिकता के विषय में गत अध्याय में लिखा जा चुका है। प्रसाद तक नाटकों में व्यंग्य का स्थान पात्रों के वार्तालाप में ही सन्निहित है।

स्वतंत्र रूप से जो प्रहसन लिखे गए उनमें से उल्लेखनीय हैं—जी० पी० श्रीवास्तव कृत *उलट फेर* (१९१८), *दुमदार आदमी* (१९१९), *गड़बड़ झाला* (१९१९), *मरदानी-औरत* (१९२०) और *भूल-चूक* (१९२०); राधेश्याम मिश्र कृत *कौंसिल की मेम्बरी* (१९२०); हरशंकर प्रसाद उपाध्याय कृत *भारत दर्शन नाटक या कौंसिल के उम्मेदवार* (१९२१); हरद्वारप्रसाद जालान का *घरकट सूम* (१९२२); गोविंद-वल्लभ पंत का *कंजूस की खोपड़ी* (१९२३); रामदास गौड़ कृत *ईश्वरीय न्याय* (१९२४); बद्रीनाथ भट्ट कृत *लबड़-धौंधौं* (१९२६), *विवाह विज्ञापन* (१९२७) और *मिस अमरीकन* (१९२९); बेचनशर्मा उग्र का *चार बेचारे* (१९२९); ठाकुरदत्त शर्मा कृत *भूल-चूक और टाई दुम* (१९२९) एवं सुदर्शन का *आनरेरी मजिस्ट्रेट* (१९२९) ।

जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य बहुत निम्न कोटि का है । उसका क्षेत्र बेतुके नामों, स्त्री-पुरुष की जूती-पैजारी और भोंडे वार्तालाप तक सीमित है। पूरबी भाषा के प्रयोग से उसमें जागृति और भी अधिक आ गई है। उनके प्रहसनों में शिष्ट हास्य की कमी है। कहीं भी स्थिति-हास्य (Humour of Situation) नहीं मिलता। सुदर्शन का *आनरेरी मजिस्ट्रेट* बहुत अच्छा है। अशिक्षित और अल्पबुद्धि क्या बुद्धिहीन सरकारी पिट्ठुओं के आनरेरी मजिस्ट्रेट बन जाने से न्याय का गला किस प्रकार घोटा जाता है और व्यक्तिगत वैमनस्य का बदला

किस प्रकार चुकाया जाता है एवं पद का दुरुपयोग धनोपार्जन में किस प्रकार होता है; इन सब स्थितियों का खाका सुदर्शन जी ने बड़ी अच्छी तरह खींचा है। उग्र जी के *चार बेचारे* में बेचारा सम्पादक, बेचारा अध्यापक, बेचारा सुधारक और बेचारा प्रचारक सम्मिलित हैं। उग्र जी का व्यंग्य हृदय में चुभने वाला व्यंग्य नहीं बन पाया।

भट्ट जी के प्रहसन तो अनुपम हैं। *लबड़-धौंधौं* से *विवाह विज्ञापन* और *मिस अमरीकन* कहीं अच्छे बन पड़े हैं। यह तो उनके कई छोटे-छोटे प्रहसनों का संग्रह है। *विवाह-विज्ञापन* में ऐसे पुरुष की हँसी उड़ाई गई है जो अपनी स्त्री के मरने के पश्चात् दिखाता तो यह है कि वह दूसरा विवाह नहीं करना चाहता परन्तु उसकी आन्तरिक अभिलाषा यही है कि किसी प्रकार सर्व-सुन्दर और सर्वोत्तम कन्या से उसका विवाह हो जाय। एक पत्र-सम्पादक को वह अपने पक्ष में कर लेता है। धन क्या-क्या नहीं कर सकता? सम्पादक जी सेठ की रुचि-अनुसार बेढंगा सा विज्ञापन निकाल ही तो देते हैं। परिणाम-स्वरूप जिस व्यक्ति से विवाह होता है वह पति महोदय से अलग ही हँसी करता है। बाह्य आकृति कितनी धोखा देने वाली होती है या हो सकती है इसका पता सेठ जी को तभी चलता है जब कृत्रिम नाक कान आदि एक-एक कर उनके सामने निकाल दिए जाते हैं और व्यक्ति का असुन्दर रूप उनके सामने आता है। स्थिति का हास्य इस पुस्तक में उच्चकोटि का है। *मिस अमरीकन* भी भट्ट जी की सफल रचना है।

अन्य प्रहसनों से इनमें जो विशेषता है वह यही है कि लेखक उपदेशक या सुधारक नहीं बना है। घटनाओं का विकास स्वयं ही होता चला गया है और कोई उपदेशप्रद परिणाम निकालने का प्रयास लेखक ने नहीं किया है। भट्ट जी उच्चकोटि के प्रहसन-लेखक थे इसमें सन्देह नहीं।

भारत-दर्शन नाटक भी सुन्दर बन पड़ा है। असहयोग आन्दोलन

की पृष्ठ-भूमि में मि० वैशाखनंदन का कौंसिल का उम्मेदवार होना दिखलाया गया है। पतारू, पवारू, चिमरू आदि उनके साथी हैं। उनका अपनी बोल-चाल की भाषा में वार्तालाप संवाद में जान डाल ता है। देश की सेवा और उस पर बलिदान होने की तत्परता के कारण पिता और पुत्र में जो विरोध होता है वह अन्त में शान्त हो जाता है और अपने पुत्र के देश-सेवा व्रत को देखकर पिता की छाती गर्व से फूल उठती है।

नाटक तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना का सजीव हास्यमय चित्र है।

अनुवाद

पूर्व परम्परानुसार इस युग में भी संस्कृत, बँगला, अंगरेजी तथा अन्य भाषाओं से अनुवाद एवं रूपान्तर हुए।

संस्कृत के अनुवादों में भवभूति के *मालती-माधव* (१९१८) का सुन्दर अनुवाद पं० सत्यनारायण ने किया। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक का गद्य-पद्य-मय सुन्दर अनुवाद विजयानन्द त्रिपाठी ने किया। संस्कृत के नये नाटककार जिनकी रचनायें हिन्दी भाषा-भाषियों के सामने आईं महाकवि भास हैं। इनकी *स्वप्नवासवदत्ता* के दो अनुवाद निकले। मैथिलीशरण गुप्त ने १९२९ में एक अनुवाद निकाला और दूसरा इंडियन प्रेस से १९३० में निकला। *मध्यम व्यायोग* के भी दो अनुवाद क्रमशः सन् १९२५ और २८ में गंगा पुस्तकमाला लखनऊ एवं राँची से निकले। राँची से ही सब से पहले उसी वर्ष *पंचरात्र* का अनुवाद प्रकाशित हुआ। अतरचन्द कपूर, लाहौर ने भी *प्रतिमा* और *पंचरात्र* का अनुवाद निकाला। सभी अनुवादकों ने भास की भाषा और भावों के साथ पूर्ण न्याय किया है। दिङ्नाग की *कुन्दमाला* का अनुवाद डा० हरदत्त ने दिल्ली से (१९३१) प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त हर्ष के *नागानन्द* का अनुवाद हरदयालुसिंह ने १९३५ में किया।

१९०६ में सदानंद अवस्थी ने जो अनुवाद *नागानंद* का किया था, हर-दयालुसिंह का अनुवाद उससे कहीं अच्छा है।

इन अनुवादों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी नाटक रचना पर नहीं पड़ा। संस्कृत के कुछ लेखकों से अवश्य थोड़ी सी नवीन जानकारी हो गई।

अंगरेजी में सब से अधिक रुचि शेक्सपियर के नाटकों की ओर ही रही। इनके अनुवाद प्रायः सब ला० सीताराम ने किए। *ओथेलो* का एक अनुवाद (१९१५) गोविंदप्रसाद घिलडयाल ने भी किया है परन्तु उसमें अनेक स्थानों पर भाषा और भाव की अशुद्धियाँ हैं।

लाला जी के अनुवाद वास्तव में भावानुवाद हैं। अंगरेजी न जानने वाले के लिए लाला जी के अनुवाद अच्छे हैं। वह शेक्सपियर की अतुकान्त कविता का अनुवाद उसी छन्द में नहीं कर सके इसलिए मूल लेखक की शैली से हिन्दी पाठक अनभिज्ञ ही रह जाता है परन्तु लेखक की आत्मा का चित्र उसके सामने अवश्य आ जाता है। सबसे अच्छी बात यह है कि लालाजी ने अनुवादों को भारतीय रूप देने का प्रयास बिलकुल नहीं किया। पात्रों के नाम, धाम सब मूल के अनु-सार हैं।

रूसी लेखक महात्मा टाल्स्टाय के तीन नाटकों का अनुवाद *कलवार की करतूत* (१९२६), *अँधेरे में उजाला* (१९२८) और *ज़िंदा लाश* (१९२९) सस्ता साहित्य मंडल, अजमेर से निकले। ये अनुवाद मूल रूसी से न होकर अंगरेजी का भावान्तर हैं। अतएव कुछ नहीं कहा जा सकता कि मूल भावों और विचारों की रक्षा कहाँ तक की गई है।

ठीक यही दशा फरांसीसी लेखक मोलियर के प्रहसनों की है। यों तो जी० पी० श्रीवास्तव ने *मार मार कर हकीम* (१९१७), *आँखों में धूल* ('१७), *हवाई डाक्टर* ('१७), *नाक में दम* ('१८). *साहब*

बहादुर ('१८) और *लाल बुझक्कड़* (१९१८) सभी को मोलियर से अपनाया है परन्तु उन्होंने अपने रूपान्तरों में देसी पुट दे दिया है। मोलियर का व्यंग्य और हास्य उनकी रचनाओं में अप्राप्य है। इस दृष्टि से डा० लक्ष्मण स्वरूप के अनुवाद अधिक सुसंस्कृत हैं। संभवतः इसका कारण यह भी है कि उनके अनुवाद मूल फ्रांसीसी भाषा से किए गए हैं। ये अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास, (लाहौर) बनारस ने प्रकाशित किए हैं।

अंगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार जान गाल्सवर्दी के तीन नाटकों का अनुवाद प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी ने कराया है। Strife और Justice का अनुवाद *हड़ताल* (१९३०) और *न्याय* (१९३१) नाम से मुंशी प्रेमचन्द ने किया था। Silver Box का अनुवाद *चाँदी की डिबिया* (१९३१) के नाम से ललिताप्रसाद जी शुक्ल ने किया। ये तीनों अनुवाद यथा-संभव मूल के रूप में किसी प्रकार का भी परिवर्तन किए बिना किए गए हैं।

इनके अतिरिक्त बेलजियम के प्रसिद्ध कवि मारिस मेटरलिंक की दो छोटी नाटिकाओं Sister Beatrice और The Useless Deliverance का मर्मानुवाद बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने *प्रायश्चित्त* और *उन्मुक्ति का बन्धन* नाम से १९१६ में किया। ये दोनों अनुवाद भी भारतीयता से ओतप्रोत हैं अतएव अनुवाद न होकर रूपान्तर ही कहे जा सकते हैं।

जर्मन कवि शीलर के Luise Millerin or Kabablind Lie-be का भी हिन्दी रूपान्तर पं० रामलाल अग्निहोत्री ने किया है। उसका नाम है *प्रेम-प्रपंच* (१९२७)। इस रूपान्तर में भी भारतीय वातावरण और नाम-मालायें लगा दी गई हैं। अपने अनुवाद के सम्बन्ध में स्वयं अग्निहोत्री जी का कहना है—"पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि मैंने यह ग्रन्थ मूल जर्मन या अंगरेज़ी से न लिखकर

फ़ारसी अनुवाद के सहारे लिखा है।......यह फारसी अनुवाद तेहरान की एक पब्लिशिंग कंपनी ने 'ख़द ओ इश्क' के नाम से प्रकाशित किया है जो मूल जर्मन का अविकल अनुवाद है और बहुत अच्छा है।"

अनुवादों में सब से अधिक प्रधानता बँगला के नाटकों की रही। इनमें द्विजेन्द्रलाल और रवीन्द्रनाथ प्रमुख हैं। माईकेल मधुसूदन दत्त के नाटकों का अनुवाद भारतेन्दु युग में हो चुका था। गिरीशचन्द्र घोष के दो एक नाटकों का हिन्दी में रूपान्तर हुआ परन्तु वे अधिक लोक-प्रिय न बन सके। सब से अधिक लोक-प्रियता द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों को मिली। सन् १९१६ से लेकर १९२५ तक इनके सभी नाटकों का सुन्दर अनुवाद हिन्दी में हो गया। द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों पर अंगरेजी के शेक्सपियर की भावुकता और अन्तर्द्वन्द्व का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता था। उन्होंने मुगल काल को अपने नाटकों का विषय बनाया। *राणा प्रताप*, *दुर्गादास*, *मेवाड़-पतन*, *शाहजहाँ*, *नूरजहाँ*, सभी इस काल के इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। उनके नाटकों में तीन विशेषतायें देखी जाती हैं—बाह्यद्वंद्व और अन्तर्द्वन्द्व, हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं नारी की महत्ता। तीनों वस्तुयें तत्कालीन समाज की विचार-धारा और रुचि के बिलकुल अनुकूल थीं। बुद्धिवाद के युग में देश-प्रेम और नारी-बलिदान एवं स्त्री-सेवा की उदात्त भावनाओं का समावेश सफलता का उपयोगी अंश था। राय बाबू की भावुकता ने उनके वातावरण और पात्रों को और भी अधिक सजीव कर दिया है।

प्रेमी शाहजहाँ, कट्टर औरंगजेब, वीर दुर्गादास, स्वामी-भक्त कासिम, हिन्दू-मुसलिम एकता का संस्थापक दिलेर खाँ, महत्त्वाकांक्षी नूरजहाँ, सभी उनकी लेखनी से चमक उठे हैं। दूसरी ओर उन्होंने साम्राज्ञी महामाया, रेवा, सत्यवती, कल्याणी और मानसी के उज्ज्वल चरित्र भी अंकित किए हैं। इन हिन्दू नारियों में वीरता है, प्रेम-

पिपासा है और अपनी आन पर मर मिटने का साहस है। खादिजा और लैला तथा रज़िया जैसी मुसलिम-बालिकायें भी राय महाशय की अद्भुत सृष्टि हैं।

उन्होंने हिन्दू आदर्शों को भी नाटक-बद्ध किया है। *सीता*, *भीष्म*, *पाषाणी*, *सिंहल-विजय*, *चन्द्रगुप्त* आदि नाटक भी अच्छे हैं। इनमें से सब से अधिक सफलता उन्हें *सीता* में मिली है। यह नाटक भवभूति के *उत्तररामचरित* की कथा से मिलता है और सुगमता से उससे होड़ ले सकता है।

राय बाबू की इन सब बातों का प्रभाव हिन्दी-जनता पर पड़ा है। प्रसाद को छोड़कर अन्य सभी नाटक-लेखक इनके नाटकों से किसी न किसी अंश में प्रभावित हुए हैं। चन्द्रराज भंडारी ने अपना *सिद्धार्थ* उन्हीं को समर्पित किया है। *महात्मा ईसा* और *अंजना* के प्रशंसक भी राय बाबू का लोहा मानते हैं और प्रतीत होता है उनके लेखकों ने उन्हीं को लक्ष्य में रखकर अपने नाटकों का निर्माण किया है। कुछ रंगमंचीय नाटकों पर भी उनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बा० शिवरामदास गुप्त उन्हें अपना आदर्श स्वीकार करते हैं। विद्यार्थी-समाज में राय जैसी लोक-प्रियता किसी लेखक को नहीं मिली। अनेक अवसरों पर उनके नाटकों का अभिनय किया गया है। प्रयाग के हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस में कई वर्षों तक उनके एक नये नाटक का अभिनय प्रतिवर्ष किया जाता था। नाथूराम जी प्रेमी ने उनके ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित करा कर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है।[१]

रवीन्द्र बाबू के भी कई नाटकों के अनुवाद समय-समय पर हिन्दी में प्रकाशित हुए—*डाक-घर* (१९२०), *विसर्जन* ('२४),

---

१. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

व्यंग-कौतुक ('२४), *मुक्तधारा* ('२५), *राजारानी* (१९२५), *चिरकुमार-सभा* (१९२८) और मुंशी अजमेरी द्वारा अनुवादित *चित्रांगदा* (१९२८)। परन्तु इन नाटकों का कोई व्यापक प्रभाव हिन्दी पर नहीं पड़ा। उनके द्वारा कुछ हिन्दी शिक्षित जनता को रवि बाबू की नाट्यकला का परिचय अवश्य हो गया। इसके अतिरिक्त ये नाटक पाठकों के जीवन और उनकी साहित्यिक अभिरुचि के साथी न बन सके। गिरीशचन्द्र घोष के कुछ नाटकों को हिन्दी में अनुवादित किया गया। *वैधव्य कठोर दण्ड है या शान्ति, बलिदान* और *बुद्ध चरित्र* इनमें उल्लेखनीय हैं।

गुजराती और मराठी से भी एक दो नाटकों के अनुवाद हुए परन्तु उनका कोई विशेष स्थान नहीं है।

अतएव कहा जा सकता है कि अनुवादित नाटकों में सब से अधिक उपयोगी नाटक केवल बँगला नाटककार द्विजेन्द्र लाल राय के थे। अन्य भाषा के नाटकों और अनुवादों से केवल हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई।

उपसंहार

प्रस्तुत युग में प्रसाद का व्यक्तित्व सर्वोपरि रहा। साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक-साहित्य में प्राचीन के प्रति अनुराग, देश-प्रेम की भावना, हिन्दू-मुसलिम एकता की आवश्यकता, पुरुषों की स्वार्थ-परता से दबी जाने वाली नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व आदि विषयों की प्रधानता रही। यह युग रोमान्स और भावुकता की गहरी छाप लिये हुए था। इसके लेखकों ने नारी की कोमल और शीतलता-प्रदायिनी शक्ति को पहचाना है, उसके साथ युग-युगान्तर से होने वाले अन्याय के सामने अपनी भूल स्वीकार कर प्रायश्चित्त किया है; मातृमंडल को उसके उच्च आसन पर बिठाया है। अपनी परिस्थिति पर बुद्धि

और हृदय दोनों के आधार पर विचार कर अपने भावी कर्तव्य का निर्णय किया है। पुरातन के अनुपयोगी अंश को छोड़ कर उसमें नूतन के अनुकूल प्रेरणायें ग्रहण की हैं।

भाषा, भाव, शैली, कला सभी की दृष्टि से प्रसाद-युग हिन्दी नाटक साहित्य का स्वर्ण-युग है। काश्मीर की प्रशंसा करते हुए जहाँगीर ने कहा था—'यदि स्वर्ग कहीं है तो यहीं है, वह यहीं है।' हमारे प्रसाद ने भी इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न किया है, मनुष्य की विषमता-प्रिय प्रकृति में से स्वार्थपरता और महत्त्वाकांक्षा की दुष्प्रवृत्ति को निकालकर उसमें समता, करुणा और सहानुभूति का दीप जला कर।

अध्याय ७

प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य का विकास

(१९३३-४२)

प्रसाद-युग समाप्त हो गया था। उसका निर्माण अतीत की विभूति और भावुकता के समन्वय द्वारा किया गया था। तत्कालीन राजनीतिक प्रवृत्तियों और मानवी-विकास की अवस्थाओं ने उसमें अमूल्य सहयोग प्रदान किया था। उसका अधिकांश भारतीय था। देशप्रेम और स्वतंत्रता के आन्दोलन से जातीय विकास और उसकी रक्षा की भावना को बहुत प्रेरणा मिली थी। यहाँ तक कि पश्चिमी रंग में रँगे हुए उच्च वर्गों और रँगे जाते हुए नवयुवकों में भी स्वदेशी ने अच्छा स्थान ग्रहण कर लिया था।

परन्तु सन १९३३ के गांधी-इरविन समझौते ने देश में फैली हुई जागृति को बाहर से ठंडा कर दिया। अंगरेजी सरकार द्वारा नियोजित और स्वार्थ-नीति पर अवलंबित लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस से देश के लिए कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा। १९३५ के भारत-विधान के अनुसार भारतीयों को कुछ शासन सुविधायें दी गईं। इनके इतिहास में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हाँ, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन सब स्थितियों के कारण देश में एक शिथिलता सी छा गई। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी इस प्रवृत्ति ने अपना प्रभाव दिखाना आरंभ किया।

पश्चिम में गत महायुद्ध के प्रभाव के कारण साहित्य में अनेक नवीन प्रयोग हो रहे थे। कुछ हो भी चुके थे। वहाँ के निबन्ध, गद्य, पद्य, उपन्यास, कहानियाँ और नाटक सभी में नया रंग आ रहा

था। वैज्ञानिक अनुसंधानों और रेडियो के विकास ने जनता और शिक्षित वर्ग में सम्पर्क स्थापना का कार्य किया। मनोवैज्ञानिक खोजों ने मनुष्य के मस्तिष्क, उसकी विचार-धारा और भावों के समझने में बहुत सहायता पहुँचाई। फ्राइड के सिद्धान्तों ने शिक्षित वर्ग में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। आस्कर वाइल्ड (१८५४—१९००), वर्जिनिया वूल्फ, बर्नर्डशा (१८५६—१९५०), एच० जी० वेल्स, जान गाल्सवर्दी (१८६७—१९३३) आदि लेखकों ने अपनी रचनाओं से एक नूतन साहित्यिक युग का श्रीगणेश किया। प्रत्येक समस्या को बुद्धिवाद और उपयोगितावाद की कसौटी पर कसा जाने लगा। हृदय पीछे रह गया और मस्तिष्क आगे बढ़ा।

ये समस्यायें हमारे प्रतिदिन के जीवन से भी सम्बन्ध रखने वाली थीं और मानवता की भावी अन्तः-परिस्थिति एवं शान्ति से भी उनका अटूट सम्बन्ध था। अतएव उनकी सीमा का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था। घर, समाज, जाति और देश सभी समस्याओं के ऊपर गहन विचार होने लगा था। व्यक्ति जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के परस्पर सम्बन्धों का इतना महत्त्व है, समस्या का प्रधान अंग बना। ये समस्यायें साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देने लगीं।

अंगरेजी नाटकों में प्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन (सन् १८२७—१९०६) ने सब से पहले अपने नाटकों द्वारा समस्या को प्रधानता दी थी और नाटक के वस्तु-विन्यास में से कोरी भावुकता को हटाकर उसमें तर्क और ज्ञान का पुट दिया था। जीवन के सम्बन्ध में उसके विचारों का सार यह है—

१. प्रत्येक प्राणी को—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—अपने जीवन को स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार व्यतीत करने का अधिकार है।

२. जीवन की एक मात्र दुःखान्तता का कारण प्रेम की असफलता है।

३. जीवन में समझौते का कोई स्थान नहीं। हाँ हर प्रकार की ईमानदारी और सचाई नितान्त आवश्यक है।

४. बहुसंख्या पर आधारित शासन एक प्रकार का अत्याचार है और अल्पसंख्या की राय सही रहती है।

अपने नाटकों में इब्सन ने इन्हीं सिद्धान्तों को पात्रों के द्वारा प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हो सकते हैं परन्तु इब्सन का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि उसने यूरोप की विचार-धारा को ही पलट दिया। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी बर्नर्ड शा इब्सन के प्रधान अनुयायियों में से हैं।

बुद्धिवाद का यह संदेश भारत में भी आया—कुछ तो उसी स्वाभाविक बौद्धिक विकास के कारण जो यहाँ हो रहा था और कुछ उन अंगरेजी पढ़े लिखे लेखकों द्वारा जो पश्चिम से प्रभावित होकर हिन्दी में भी इस नवीनता का प्रतिदान करना आवश्यक समझते थे। अतएव प्रसाद युग तक आई हुई प्राचीन हिन्दी परम्पराओं में यह भी सम्मिलित हो गया।

प्रसादोत्तर युग में नाटक-साहित्य में दो धाराओं की प्रधानता है—ऐतिहासिक और समस्या-प्रधान। इन दोनों के विषय में लिखने से पहले यह मालूम होना चाहिये कि अन्य नाटक-धारायें भी इस काल में चलती रहीं।

राम-धारा के अन्तर्गत केवल तीन नाम उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविन्ददास का *कर्तव्य* (पूर्वार्ध) (१९३५) और चतुरसेन शास्त्री के *सीताराम* (१९३९) एवं *श्रीराम* (१९४०)।

इसी प्रकार *कृष्ण-धारा* के नाटकों में भी तीन ही नाटक प्रमुख रहे। सेठ गोविन्ददास का *कर्त्तव्य* (उत्तरार्ध); उदयशंकर भट्ट का *राधा* ('४१) और किशोरीदास वाजपेयी का *सुदामा* (१९३९)।

इन दोनों धाराओं का उल्लेखनीय नाटक केवल *कर्त्तव्य* है।

इसके दो भाग हैं पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में रामचरित है। कथानक का आरंभ राम और सीता के संवाद से होता है। राम कहते हैं—"देखना है प्रिये! इस भारी उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। दायित्व ग्रहण करने के लिए एक पहर ही तो शेष है, मैथिली।" और सीता भी सरलता से उत्तर देती है—"हाँ नाथ, केवल एक पहर। सफलता के सम्बन्ध में प्रश्न ही निरर्थक है, आर्यपुत्र! यदि संसार में आपको ही अपने कर्त्तव्य में सफलता न मिली तो अन्य को मिलना तो असंभव है।" इसके पश्चात् के दो दृश्यों में राम-वन-गमन की कथा है। दूसरे अंक में पंचवटी-निवेश, सीता-हरण और बाली-वध वर्णित है। तीसरे अंक में रावण-वध और सीता की अग्नि-परीक्षा के दृश्य हैं। चौथे अंक में राम-लक्ष्मण-सीता का अयोध्या में पुनरागमन, सीता-परित्याग, शम्बूक-वध है। पाँचवें अंक में वाल्मीकि-आश्रम में सीता, अश्व-मेध-यज्ञ, लवकुश और सीता का राम द्वारा 'ग्रहण', सीता का पुनः परीक्षा में पृथ्वी के अन्दर विलीन होना, लक्ष्मण का शरीर त्याग और उनकी चिता के सामने राम का शरीर-त्याग वर्णित हैं।

इस प्रकार सारे कथानक का पर्यवसान दुःख में होता है। सेठ जी की विशेषता यह है कि उन्होंने वैष्णव होते हुए भी राम के चरित को मनुष्य के दृष्टिकोण से देखा है, किसी भक्त की दृष्टि से नहीं। कर्त्तव्य का आदर्श मानवता के आधार पर अंकित किया गया है। अति-मानवता का आश्रय उसमें बिलकुल नहीं है।

जिन घटनाओं के रूप और जिनके समय आदि के सम्बन्ध में कुछ संदेह हैं उनका निराकरण भी लेखक ने अपने तर्क और कल्पना से कर लिया है। कर्तव्य के आवाहन में कौन सी घटना राम की आयु के किस वर्ष में घटित हुई इसका उल्लेख उन्होंने अपने निर्देशक नाटक अंशों में कर दिया है। अनेक घटनाओं और उनके पूर्ण होने की सूचना छोटे-छोटे परन्तु स्वाभाविक दृश्यों द्वारा नागरिकों के वार्तालाप में दे दी

है। यद्यपि यह परिपाटी कोई नई नहीं है परन्तु उसका रूप नया है। राम का शरीरान्त दिखाकर लेखक ने समस्त कथानक को बुद्धिवाद का रूप दे दिया है। पश्चिम के 'दुखान्त' का यह प्रभाव स्पष्ट है!

उत्तरार्ध का अंश कृष्ण-चरित है। उसका आरंभ भी कृष्ण और राधा के संवाद से होता है। अगले दिन कृष्ण मथुरा जा रहे थे। इसी से राधा उनसे एक वार फिर से बंसरी बजाने की प्रार्थना करती है। इसी प्रसंग में कृष्ण 'अनासक्ति' का उपदेश देकर राधा को सुख प्राप्त करने का मंत्र देते हैं। फिर उद्धव-आगमन, उनका मथुरा वापिस जाना, जरासंध और कालयवन से कृष्ण का युद्ध, द्वारिका-गमन, अन्य राक्षसों का वध, भौमासुर की मृत्यु, 'लोकहितार्थ, लोक-सुखार्थ' समाज के विरुद्ध नियम होने पर भी १६ राजकुमारियों से विवाह, इन्द्रप्रस्थ में द्रौपदी-रुक्मिणी मिलन, महाभारत युद्ध में गीता का उपदेश और अन्त में प्रसिद्ध प्रभास-क्षेत्र में उद्धव के सामने बहेलिए के तीर के कारण मुरली बजाते हुए श्रीकृष्ण का अवसान।

उत्तरार्ध में भी कला और दृष्टिकोण वही जो पूर्वार्ध में है और वैसी ही सफलता भी है।

दोनों नायकों का अन्त दुखद है परन्तु उन्हें अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मरने में सुख है। दुःखान्त की यह भावना प्रसाद की सुखान्त भावना से बिलकुल मेल खाती है। अन्तर केवल इतना है कि प्रसाद के पात्रों में अति-मानवता का कोई चिह्न लगा हुआ नहीं और राम और कृष्ण को एक भाग ईश्वर का अवतार मानता आया है।

वाजपेयी जी के *'सुदामा'* में उनके दुखमोचन की कथा है। परन्तु इसमें लेखक ने सुदामा के चरित्र में ब्राह्मण के लोक-कल्याण के रूप को दिखाकर उसकी महत्ता प्रतिपादित की है। इसीसे उसका दूसरा संस्करण *द्वापर की राज-क्रान्ति* कहलाया है।

पौराणिक-धारा के अन्य नाटकों में उल्लेखयोग्य हैं—उदयशंकर भट्ट के *अंबा* (१९३५), *सगर-विजय* (१९३७), *मत्स्यगंधा* (१९३७) और *विश्वामित्र* (१९३८); चतुरसेन शास्त्री का *मेघनाद* (१९३६) तथा बेचन शर्मा 'उग्र' का *गंगा का बेटा* ('४०) और डा० लक्ष्मण स्वरूप का *नल दमयन्ती* (१९४१)।

इस धारा के प्रधान लेखक भट्ट जी हैं। जिस प्रकार प्रसाद ने प्राचीन हिन्दू काल को अपने नाटकों का विषय बनाया था, उसी प्रकार भट्ट जी ने प्राग्-ऐतिहासिक काल से अपनी नाटक-सामग्री चुनी है। सन् १९३३ में लिखे गए अपने ऐतिहासिक नाटक *दाहर अथवा सिंध-पतन* द्वारा वह ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उस नाटक में सिंध के पतन पर वहाँ की राजकुमारियों सूर्य देवी और परमाल देवी द्वारा खलीफा की मृत्यु करने के पश्चात् परस्पर खंजर भोंककर हत्या करने की कथा है। *दाहर* दुखान्त नाटक है। अपनी भूमिका में भट्ट जी ने वियोगान्त नाटक के प्रभाव के कारण उसे सुखान्त की अपेक्षा अच्छा माना है। उनका विचार है कि 'वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है।'

अपनी इसी विचार धारा को लेकर उन्होंने *दाहर* के पश्चात् लिखे जाने वाले नाटकों का विषय चुना। *अम्बा* उनका ऐसा ही वियोगान्त नाटक है। काशिराज की तीन कन्यायें थीं अंबा, अंबिका और अंबालिका। उनके स्वयंवर में काशिराज ने हस्तिनापुर के राजा, शान्तनु-पत्नी सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य को निमंत्रित नहीं किया क्योंकि सत्यवती धीवरराज की कन्या थी। इस पर सत्यवती ने भीष्म को भेज कर तीनों कन्याओं का हरण करवा कर हस्तिनापुर में बुलवा लिया। अंबिका और अंबालिका ने विचित्रवीर्य से विवाह कर लिया परन्तु अंबा राजा शाल्व को अपना पति वरण कर चुकी थी। अतएव उसे राजा शाल्व के यहाँ भिजवा दिया गया परन्तु उन्होंने दूसरे के द्वारा हरी हुई कुमारी को न अपनाया। स्वभावतः अम्बा इस अपमान

से बड़ी कुपित हुई। उसी का बदला लेने का प्रयोग और उसमें सफलता-असफलता का संघर्ष इस नाटक में है।

साथ ही साथ लेखक वर्तमान व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्ति की समस्या को भी कथा-वस्तु में ले आया है। अंबा के रूप में उसे उस वर्तमान नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने का अवकाश मिल गया है जो पुरातन को छोड़कर नूतन के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए व्याकुल है। अतएव लेखक ने पुरातन और नूतन का भरत-मिलाप कराया है।

प्रथम अंक में नाटक की सारी परिस्थिति का वातावरण उपस्थित कर दिया गया है जो धीरे धीरे अपने क्रमिक विकास द्वारा अन्तिम परिणाम पर पहुँचा है। दूसरे अंक का पाँचवाँ दृश्य अंबा के हृदय को मानो कागज़ पर निकाल कर रखे दे रहा है। वही उसका केन्द्रित आत्म-बल है जो तीसरे अंक में शाल्व से अपमानित होने पर उसके मुख से शब्द निकलवाता है—

"......किन्तु जाती हुई एक बार, हाँ एक बार तुम से कहे देती हूँ कि इसी मान अपमान की आग में, इसी क्षत्रियत्व की अविवेकिनी अग्निशिखा में इस पापी समाज का अनन्त काल के लिए नाश होगा। वीरता और विवेक की आँखों से देखने का छूँछा आडम्बर रचने वाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य में दास, निकृष्ट दास बनना होगा।......"

वह परशुराम की सेवा कर अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहती है, सफल नहीं होती और अन्त में महादेव की शरण लेती है। अगले जन्म में 'देवव्रत के नाश' का वरदान उसे मिलता है और गंगा में कूद कर वह अपना प्राण दे देती है शीघ्रता से दूसरा जन्म पाकर अपना प्रतिशोध लेने के लिए। नाटक का अन्तिम दृश्य बड़ा प्रभावोत्पादक है—मृत्यु-शय्या पर भीष्म पड़े हैं। उनके हृदय में काशिराज की कन्याओं का हरण, अंबा का उनसे विवाह प्रस्ताव और उनकी अव-

हेलना आदि सब दृश्य अंकित हो रहे हैं—एक के बाद दूसरा—उनकी व्याकुलता बढ़ रही है । कृष्ण सहित पांडव इसको देखकर महात्मा व्यास से इसका कारण पूछते हैं । व्यास उत्तर देते हैं—'काशिराज की कन्या अंबा की प्रति-हिंसा का फल भीष्म को भुगतना पड़ रहा है......... एक स्त्री के अनादर का फल यह महा-भारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु।" भीष्म प्राण त्याग करते हैं और शिखण्डी के वेष में अंबा आकर पागल सी होकर रंगमंच से बाहर निकल जाती है ।

सगर-विजय एक पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। सगर अयोध्या के राजा बाहु के पुत्र थे। उनकी दो रानियाँ थीं—विशालाक्षी और बर्हि। एक कोमल, सती और सात्विक; दूसरी कठोर, स्वार्थी और उग्र। हैहयवंशी दुर्दम के द्वारा बाहु का राज्य छिन गया और उनकी मृत्यु हो गई। गर्भवती विशालाक्षी आश्रय हीन होकर और्व ऋषि के आश्रम में रहने लगी। प्रतिहिंसा की उपासिनी बर्हि ने छल पूर्वक बालक सगर का हरण कर उसके प्राण लेने चाहे परन्तु कुन्त और त्रिपुर की सहायता से वह बच गया । विशालाक्षी ने भी आत्महत्या का प्रयत्न किया परन्तु निष्फल। बड़ा होकर सगर अयोध्या का राजा बना। रानी बर्हि ने आत्म-हत्या की, इसी दुख में विशालाक्षी भी स्वर्ग सिधारी। राजा दुर्दम का अन्त भी बंदी-गृह में हुआ। सगर ने विश्व पर जय प्राप्त की और चक्रवर्ती राजा बने ।

भट्ट जी ने अपने नाटक में बर्हि के चरित्र को सुन्दरता से चित्रित किया है। उसके विचारों का चढ़ाव-उतार स्वाभाविक और विचित्र है। स्त्री क्या कर सकती है बर्हि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अन्तर्द्वन्द्व दिखाने के कारण लेखक को 'स्वगत' का बहुत अधिक आश्रय लेना पड़ा है जो कला की दृष्टि से उच्च कोटि की वस्तु नहीं। *अंबा* भट्ट जी का अधिक सफल नाटक है। देश-प्रेम वाली चेतना *सगर-विजय*

में बड़ी स्पष्ट हो गई है।

मत्स्यगंधा धीवर की पुत्री और महाराज शान्तनु की स्त्री के चरित्र का प्रदर्शन है। यह गीति-नाट्य है। अतएव यह अपने रूप में ही अच्छी है। नाटक की दृष्टि से इसे नहीं देखा जा सकता। प्रसाद के *करुणालय* वाली परम्परा इसमें सुरक्षित है।

भट्ट जी की नाटक-कला बड़ी मँजी हुई है। प्रसाद के पश्चात् उन्होंने प्रस्तुत धारा को बड़ी सावधानी और कुशलता से आगे बढ़ाया है।

उग्रजी का *गंगा का बेटा* भीष्म का चरित है। नाटकीय दृष्टि से उसमें कोई विशेषता नहीं।

ऐतिहासिक धारा में कुछ अच्छे नाटक लिखे गए। प्रमुख नाटकों की सूची में जिनका नाम लिया जा सकता है वे हैं—उदयशंकर भट्ट का *दाहर या सिंध पतन* (१९३४); द्वारकाप्रसाद मौर्य कृत *हैदर अली* (१९३४); भगवतीप्रसाद पांथरी का *काल्पी* (१९३४); श्यामाकांत पाठक का *बुन्देल केसरी* (१९३४); धनीराम का *वीरांगना पन्ना* (१९३४); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का *अशोक* (१९३५) और *रेवा* (१९४२); गोविंदवल्लभ पंत का *राजमुकुट* (१९३५) और *अंतःपुर का छिद्र* ('४०); कुमार हृदय का *भग्नावशेष* ('३६); गोपालचन्द्र देव का *सरजा शिवाजी* ('३७); कैलाशनाथ भटनागर का *कुणाल* ('३७), और *श्रीवत्स* ('४१); उपेन्द्र नाथ 'अश्क' का *जय पराजय* ('३७); हरिकृष्ण प्रेमी के *रक्षा-बंधन* (१९-३४), *शिवा-साधना* ('३७), *प्रतिशोध* ('३७), *स्वप्न भंग* ('४०), *आहुति* ('४०) और *मन्दिर* ('४२); शिवदत्त रमानी का *नीभाड़-केसरी* ('३८); परिपूर्णानंद का *रानी भवानी* (३८); सत्येन्द्र का *मुक्ति-यज्ञ* ('३८); लक्ष्मी-नारायण मिश्र का *अशोक* ('३९); मायादत्त नैथानी का *संयोगिता* ('३९); मुरारीशरण मांगलिका का *मीरा* ('४०), शंभुदयाल सक्सेना का *साधना पथ* ('४०); सेठ गोविंद दास का *कुलीनता* ('४१) एवं *शशिगुप्त* ('४२);

और हरिश्चन्द्र सेठ का *पुरु और एलेक्जेंडर* (१९४२)।

इस धारा के प्रधान नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी हैं। उनके चार नाटकों की सामग्री मुगलकालीन भारत के इतिहास से ली गई है। *शिवा-साधना* में दक्षिण महाराष्ट्र वीर शिवाजी, उनके साहसिक आक्रमणों एवं संगठन का विषय है। नाटक का आरंभ शिवाजी और उनके मराठा सरदारों की बातचीत से होता है और अन्त समर्थ गुरु रामदास के शुभ उपदेश से जिसमें वह कहते हैं :—

"भैया ! यह स्वराज्य-साधना का कार्य, युग युग की गुलामी की बेड़ियों को काटने का काम, एक दो दिन में नहीं होता......स्वतन्त्रता से अमूल्य कोई वस्तु नहीं—धर्म भी नहीं। इसके साधक को इस पर सब कुछ बलिदान करना पड़ता है।"

प्रतिशोध का नायक बुन्देल खण्ड का प्रसिद्ध छत्रसाल है। बुन्देलों की बिखरी हुई शक्ति को सुसंगठित कर किस प्रकार उसने औरंगज़ेब जैसे बलशाली सम्राट् का विरोध सफलता पूर्वक किया—यही इसमें दिखाया गया है। *शिवा-साधना* के रामदास की तरह इसमें भी प्राणनाथ अन्त में कहते हैं :—

"स्वार्थी मत बनो भैया ! तुम्हें अन्तश्चक्षु प्राप्त हुए हैं। बाहरी प्रकाश पर निर्भर होना छोड़ो। बुन्देलखण्ड में शक्ति का अक्षय स्रोत छिपा पड़ा है, उसे असहाय न समझो। इतना बड़ा भारत देश अभी दासता की जंजीरों में जकड़ा पड़ा है, भैया ! जब तक वह पूर्ण स्वतन्त्र न हो जायगा मुझे एक जगह टिकने का अवसर न मिलेगा।.....................तुम अपना शासन सुदृढ़ करो और मुझे अन्यत्र जाकर वहाँ की छिन्न भिन्न और मूर्छित शक्तियों को संगठित और जाग्रत करने दो।"

इन दोनों नाटकों में देश की स्वतंत्रता और शक्ति संगठित कर उसकी सुरक्षा का ही वर्णन है।

रक्षा-बंधन में मुगल सम्राट् हुमायूँ और उदयपुर के स्वर्गीय

महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती के भाई-बहन सम्बन्ध की रक्षा का वर्णन है। लेखक ने दिखाया है किस प्रकार महाराणा का विरोधी मुगल बादशाह कर्मवती को बहन मान लेने पर अपने मंत्रियों की मंत्रणा के विरुद्ध भी, गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के उदयपुर पर आक्रमण का समाचार सुनकर उसकी रक्षा के हेतु चंबल से चलकर उदयपुर पहुँचता है। परन्तु कर्मवती रक्षा की आशा न देखकर जौहर द्वारा अपना शरीर त्याग देती है। हुमायूँ को दुख होता है कि वह सब कुछ करने पर भी अपनी धर्म-बहन की रक्षा न कर सका। उसके शब्द "जिन राखी के धागों से बहनें भाइयों के सर खरीद लेती हैं, वे हम मुसलमानों को कहाँ नसीब हैं ? मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मोहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।" अथवा, "बहन के प्यार की कीमत, इन राखी के धागों की कीमत दुनियाँ की बादशाहत और बहिश्त की सलतनत से भी बढ़कर है।......चलिए महाराणा आपको बाकायदा मेवाड़ के तख्त पर बैठाकर अपने सर से राखी का कुछ कर्ज उतार लूँ। पूरा कर्ज तो उस दिन उतरेगा जब सारी मुसलिम कौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथों में बेहिचक राखी बाँधने की हिम्मत करेंगी और सारी हिंदू कौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथों में दिली मुहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बाँधने की मेहरबानी करेंगी, जब हमारी आँखों से पाप का मैल धुल जायगा।......" हिन्दू-मुसलिम एकता के द्योतक हैं; हुमायूँ की ध्वनि भारत की ध्वनि है; वह गाँधीवाद का मूल संदेश है।

लेखक ने बड़ी कुशलता से इतिहास की घटनाओं की रक्षा कर हिंदू-मुसलिम-एकता का चित्र अंकित किया है। उसकी आदर्शवादिता से कट्टर धर्म-पक्षपातियों का विरोध संभव है परन्तु मानवता की विस्तृत परिधि में इन्हीं भावनाओं का प्रचार संस्कृति का रक्षक हो सकता है। भाई-भाई का गले काटने वाला सिद्धान्त नहीं।

स्वप्न-भंग अभागे दारा के जीवन की उस करुण कहानी का एक

अंश है जो अन्तिम दिनों में औरंगजेब के साथ संघर्ष में बीता। दारा हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का पक्षपाती था। अपने विचारों और कार्यों द्वारा उसने इसी को सुदृढ़ रूप देने का प्रयत्न किया परन्तु उसका स्वप्न पूरा न हो कर भंग हो गया और आज भी हम देखते हैं वह भंग ही पड़ा है। एकता के इसी भाव का समर्थन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किया गया है। दारा की मृत्यु के उपरान्त जहाँनारा कहती है प्रकाश से—

"मनुष्यता का ऐसा पतन कहीं सुना है, कहीं देखा है? यह संसार क्या अब भी रहने योग्य है?" प्रकाश उत्तर देता है "रहना तो पड़ेगा ही।" आगे चलकर वही प्रकाश (मानो लेखक स्वयं ही) कहता है—

"आज एक महान स्वप्न भंग हो गया। क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा का बलिदान व्यर्थ जायगा? ......क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान बलिदान को भूल जावेंगी···हिन्दुस्तान क्या तू इस आवाज को सुनेगा? सुनकर कुछ करेगा?"

रक्षा-बंधन और *स्वप्न-भंग* दोनों का एक ही उद्देश्य है—दोनों में मुसलमान पात्रों की भाषा उर्दू है और हिन्दू पात्रों की हिन्दी। लेखक को एकता का भाव रखना अधिक अभीष्ट है। इतिहास का अंकन उसके लिए गौण बात है। नाटक उपयोगी हैं, साहित्यिक भी हैं और रंगमंच पर खेले जाने के उपयुक्त भी। इन्हीं की परम्परा में *आहुति* भी है।

इन चारों नाटकों का वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण और अन्त कलात्मक रूप में श्रेष्ठ है। यद्यपि इन पर द्विजेन्द्र लाल राय का रंग है परन्तु प्रसाद के पश्चात् जो सफलता प्रेमी जी को ऐतिहासिक नाटकों में मिली है वह सामूहिक रूप से किसी अन्य लेखक को नहीं। उनके ऐतिहासिक नाटक हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से उद्भूत भावनाओं के चित्र तो हैं ही साथ में वे उस आदर्शवादी परम्परा के भी प्रतिनिधि हैं जो भारत की सज्जनता, आत्म-विस्तार और 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' की अनुगामिनी है।

अन्य नाटक-कारों को भी अपने प्रयत्नों में सफलता ही मिली है। गोविंददास का *शशिगुप्त* वही है जो प्रसाद का *चन्द्रगुप्त* है। अन्तर यह है कि सेठ जी ने अपने नाटक में प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ की चन्द्रगुप्त एवं सिकन्दर सम्बन्धी खोजों के आधार पर उसे नवीनतम रूप देने का प्रयत्न किया है। इन खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि चन्द्रगुप्त और शशिगुप्त एक ही व्यक्ति थे; चन्द्रगुप्त भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त का निवासी था और चाणक्य को जन्मभूमि भी तक्षशिला थी। अतएव इन दोनों के सम्बन्ध में जो मगध से सम्बन्ध रखने की बात चली आरही है सत्य नहीं है। दूसरी बात है पोरस की सिकन्दर पर विजय। प्रोफेसर साहब का कहना है कि पोरस-सिकन्दर युद्ध में सिकन्दर ही की पराजय हुई थी और उसी ने पोरस से सन्धि प्रस्ताव किया था।

नाटक में जो संकेत लेखक ने अवस्था, समय और दृश्य के विषय में स्थान स्थान पर दिए हैं वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उस समय का चित्र उनके द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से अंकित हुआ है। इस नाटक से हमारे इतिहास में श्रीवृद्धि हुई है और नाटक साहित्य में भी नवीनतम खोजों को काम में लाने की प्रेरणा मिली है। प्रसाद की परम्परा का यह नाटक अच्छा प्रतिनिधि है।

पं० श्यामाकान्त पाठक के *बुन्देल-केशरी* में राजा छत्रसाल नाटक का नायक है। इस कथा-प्रसंग में तीन कवि भी आ गए हैं—भूषण, लाल और औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा। जेबुन्निसा के आदर्शवाद ने नाटक को और अधिक जातीय-भावना-प्रेरित बना दिया है।

इन्हीं भावनाओं से मिलता जुलता *मर्यादा का मूल्य* है। उसके लेखक कुँवर वीरेन्द्रसिंह रघुवंशी और रामचन्द्र श्रीवास्तव हैं। केवल इसके नायक छत्रसाल न होकर चम्पतराय हैं। पुत्र के स्थान पर पिता, बस यही भेद है।

कैलाशनाथ भटनागर की नाट्यकला का विकास भी क्रमशः होता रहा है। उनके अन्तिम नाटक *कुणाल* और *श्रीवत्स* सफल नाटक हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के *अशोक* में वस्तु की जटिलता अधिक है परन्तु अपने नायक के विशाल चरित्र का अंकन उन्होंने सुन्दर किया है। अभिनय के लिए भी यह नाटक बहुत उत्तम है। *रेवा* में इतिहास आधार मात्र है, प्रतिपादन सब कल्पित है। पंत जी का *अन्तःपुर का छिद्र* बुद्धकालीन उदयन और उनकी रानियों पद्मावती और मागंधिनी की कथा से युक्त भाव-नाट्य है। *वरमाला* की तरह इसमें भी भावुकता की प्रधानता है।

प्रसाद अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा जो परम्परा चला गए थे उसकी रक्षा उचित मात्रा में उनके परवर्ती लेखकों ने की है। यद्यपि ये प्रयास भारत के इतिहास का कोई क्रम-बद्ध रूप प्रस्तुत नहीं करते परन्तु अपने विषय में इन्होंने देश के वातावरण के अनुकूल उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत की है। अपनी संस्कृति, वीरता, देश-प्रेम, स्त्री-मर्यादा आदि भावों की रक्षा के लिए इन नाटकों ने बड़ा काम किया है। इन्हीं उदाहरणों द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषी अपने उत्साह को स्थित रख सके। वर्तमान में जो रूप हमें अपने देश और समाज का दिखाई दे रहा है हिन्दी-भाषा-भाषियों में उसका मूल इन्हीं प्रवृत्तियों में निहित है।

प्रसादोत्तर काल में *प्रेम-प्रधान* और *प्रतीक-धाराओं* के अन्तर्गत केवल दो ही नाटक उल्लेखनीय हैं—कमलाकान्त वर्मा का *प्रवासी* ('४१) और सुमित्रानंदन पंत का *ज्योत्स्ना* ('३४)।

पंत जी का *ज्योत्स्ना* एक अपूर्व नाटक है। अलंकार के रूप में संध्या तथा उनके क्रमशः विकास ज्योत्स्ना, उषा और प्रकाश का सजीव वर्णन है। अज्ञान से ज्ञान की अवस्था तक का यह मनोवैज्ञानिक विकास पंत जी ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। *कामना*

की तरह इसमें मानवी वासनाओं का मानवीकरण नहीं है। यह मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के विषयों में लेखक की अद्भुत कल्पना है। उसने पाँच भागों में अपनी कथावस्तु को विभाजित किया है। हिन्दी नाटक साहित्य में यह एक नवीन और बड़ा सफल प्रयास है अतएव उसके विषय का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

प्रथम में संध्या और संध्या के समय पक्षियों के कलरव एवं आनंद का वर्णन कर उसका द्वार बंद करा दिया है। यह अंश ज्योत्स्ना के आगमन की प्रस्तावना है।

दूसरे में इन्दु और ज्योत्स्ना का प्रेम-वार्तालाप अपने पति के आदेशानुसार मर्त्यलोक में ज्योत्स्ना के आने के उद्योग का वर्णन है। इंदु कहता है—"तुम संसार में नए युग की निभा बन कर अवतीर्ण होओ, नव-जीवन की संदेश-वाहक बन कर प्राणियों को प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौंदर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श दिखाओ।" क्योंकि लेखक ज्योत्स्ना के शब्दों में समझता है—"मर्त्यलोक से मानवी भावनायें धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन हैं, एक दम दुर्लभ हो गए हैं।"........................"अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर संसार की सभ्यता ने मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए संसार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।"

तीसरे अंश में ज्योत्स्ना का मर्त्यलोक में आगमन, पवन और सुरभि द्वारा वहाँ की स्थिति का ज्ञान और उनके तथा कल्पना एवं स्वप्न के सहयोग से मर्त्य में नवीन जागृति के दृश्य उपस्थित करने का वर्णन है। यह अंश सब से अधिक विस्तृत और विशाल है। उसमें ज्योत्स्ना अपने बोए बीज के कारण निम्न नूतन दृश्य देखती है—

(१) जीवन-वसन्त के मानवी कलि-कुसुमों का दृश्य—एक रमणीक उपवन में पशु पक्षियों का निर्भय विचरण और बालक

बालिकाओं एवं युवतियों का आमोद-प्रमोद।

(२) मानव-प्रेम के नवीन ज्ञानोदय में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास एवं जाति और वर्ण के भूत प्रेतों का तिरोभाव।

(३) विद्वान और विदुषियों का नवीन परिवर्तन पर विवाद। इनमें प्राचीन संस्कृति-अनुरागी, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं अध्यात्म-मनोवैज्ञानिक (Meta-psychological) आदि सभी सम्मिलित हैं।

(४) श्रमजीवियों, कृषकों और व्यवसायियों के बालकों का गीत—

"मानव, मानव सब हैं समान।"

(५) शासन और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की विविध-विषय-चर्चा। विषयों में प्रजातंत्र, लोकतंत्र, समाजवाद आदि हैं।

(६) कवि और कलाकार का जीवन-उद्देश्य—"अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना, कवि, चिन्तक और कलाकार का काम है।"

यहीं सब वसंत-दृश्य समाप्त होते हैं और अपने मनोरथ की सफलता देखकर एवं अपने उद्योग से तृप्त होकर ज्योत्स्ना स्वर्ग की ओर पुनः प्रयाण करती है।

चौथे अंश में प्रकाश के उदय की भूमिका है और छायान्तर्गत कुछ दृश्यों का वर्णन है।

पाँचवें में उदयाचल का दृश्य है, प्रभात काल के समय फूलों के बालकों का आमोद, तितलियों का आनन्द, नृत्य और गीत, प्रभात-विहगों का नृत्य और गीत, पल्लवों का नृत्य और गीत, दूब और ओस बालकों का नृत्य एवं गीत तथा लहरों का नृत्य और गीत हैं।

इन आमोद-प्रमोद-पूर्ण दृश्यों को देखकर उषा कहती है—

"इस जीवन के पास कितने रूप-रंग, कितने हाव-भाव, कितना सुख

और सौंदर्य है ? यह रूप-रंग रुचि-रेखा का संसार ही मुझे प्रिय है।"

"इन नवीन आशा अभिलाषाओं एवं उमंगों से उल्लसित जीवन के नवीन शिशुओं के साथ ही मुझे सब से अधिक सुख मिलता है।"

"जीवन शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अंतिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत में है। यही साकार सत्य है। विधाता की अनन्त क्रियात्मक कला—जन्म-मृत्यु, सृजन-संहार—समस्त द्वन्द्व, इसी विभिन्नता के वैचित्र्य से पूर्ण, मूर्त विश्व के रूप में चरितार्थ हो रहे हैं।"

समस्त चराचर को एक ही नियम से परिचालित होते देखकर उषा को संतोष होता है। ओस, फूल, दूब, पल्लव, किरण आदि सब के समवेत गान से नाटक का अन्त हो जाता है। उसी समय सूर्योदय का प्रकाश फैलता है।

पंत जी ने अपने उद्देश्य का उद्घाटन बड़े सुन्दर रूप से अपने पात्रों द्वारा कराया है। वेष-भूषा, वातावरण और गति-प्रभाव के सम्बन्ध में उनकी निर्देशिकायें बड़ी सुन्दर और स्पष्ट हैं। उन्हीं के कारण लेखक अपनी कल्पना को नाटक का रूप देने में समर्थ हो सका है।

इस प्रतीकवादी-नाटक धारा में पंत जी की *ज्योत्स्ना* एक नवीनता की सूचक है। *कामना* में केवल मानवी वासनाओं के वार्तालाप के द्वारा वस्तु-विन्यास का विकास दिखाया गया है। परन्तु पंत जी ने अपने नाटक के उपकरण प्रकृति से चुने हैं। ज्योत्स्ना सब दृश्यों की सूत्रधार है, उसके पति इन्दु उसकी कार्य गति के प्रेरक हैं, पवन, सुरभि, कल्पना, स्वप्न उसके साधन हैं और अन्य दृश्य उसकी योजना के परिणाम हैं। प्रकृति के विभिन्न अंगों को लेकर उनसे एकता की सृष्टि कराई गई है। विषमता में समता की स्थापना ही प्रत्येक कलाकार का उद्देश्य होता है और पंत जी ने वही अपने रूपक में कराया है।

अतएव पंत का इस धारा में विशेष स्थान है। उनकी कविता ने उनके उद्देश्य की पूर्ति में पूरी सहायता की है।

राष्ट्रीय प्रेम और समस्या धारायें इस युग में आकर एक हो गई हैं। एकता का यह रूप वैसे तो प्रसाद काल में ही आरंभ हो गया था परन्तु प्रस्तुत समय में यह बिलकुल ही एक दूसरे में समा गई हैं।

इस गंगा-जमनी का कारण स्पष्ट है। देश की राजनीतिक जागृति में केवल देश-प्रेम की भावना का प्राधान्य इस समय नहीं रहा। उसके मूल कारणों का ज्ञान और अपनी परवशता को दूर करने के उपायों की बात भी उसमें सम्मिलित हो गई। देश की आर्थिक स्थिति, समाज का पुनर्संगठन, वर्ण-विभाग का विषय, वैज्ञानिक उन्नति, व्यक्ति का प्रश्न, स्त्री की स्वतन्त्रता, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संबंध—ये सब के सब विषय एक दूसरे से इतने अधिक संबंधित हो गए कि इन्हें अलग अलग रखना असंभव हो गया। जब धर्म, समाज सभी राज-नीति का अंग बन गए तो हमारे नाटकों में यथा-स्थान सभी प्रकार के पुटों का समावेश नाटककार की मूल समस्या में हो गया। प्रसाद-कालीन लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में एक से अधिक समस्याओं का मेल है। बद्रीनाथ भट्ट जी के नाटकों में भी यह मिश्रण किस प्रकार आ गया है इसका उल्लेख भी हो चुका है। इतिहास और समस्या की एकता का सुन्दर प्रयास हरिकृष्ण प्रेमी, गोविंददास, उदयशंकर भट्ट एवं गोविंद वल्लभ पंत के नाटकों में प्रस्तुत है ही।

अतएव इन दोनों धाराओं में, जिसे *समस्या-प्रधान-नाटक धारा* कहना चाहिए, उसके जो उल्लेखनीय नाटक हैं, वे ये हैं—

प्रेमसहाय सिंह का *नवयुग* (१९३४); लक्ष्मीनारायण मिश्र के *राजयोग* (१९३४), *सिंदूर की होली* (१९३४) और *आधीरात* (१९३७); बेचन शर्मा उग्र के *डिक्टेटर* (१९३७), *चुम्बन* ('३८) तथा *अवारा* ('४२); गोविन्दवल्लभ पंत का *अंगूर की बेटी* (१९३७);

भगवती प्रसाद वाजपेयी का *छलना* ('३९); सूर्यनारायण शुक्ल का *खेतिहर देश* ('३९); वृन्दावन लाल का *धीरे धीरे* ('३९); गोविंद-दास के *विकास* ('४१) और *सेवापथ* ('४०) तथा *प्रकाश* ('३५); उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का *स्वर्ग की झलक* ('४०); पृथ्वीनाथ शर्मा कृत *दुविधा* (१९३८) और *अपराधी* ('३९); शारदादेवी का *विवाह-मंडप*; हरिकृष्ण प्रेमी के *छाया* ('४१) और *बंधन* ('४१)।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक समस्या-नाटकों में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। *राक्षस का मंदिर* और *संन्यासी* का उल्लेख पहले हो चुका है। उनके समान इनके अन्य नाटकों में भी नारी-समस्या की प्रधानता है। लेखक इसे 'चिरंतन-नारी की समस्या' कहता है। संभवतः इस शब्द-माला से उसका अभिप्राय चिरंतन काल से चली आने वाली नारी समस्या से है (?)। उसका कहना यह है कि जीवन अनेक समस्याओं से परिपूर्ण है। उसमें प्रधानता, कम से कम भारतीय वर्तमान वातावरण में, नारी-समस्या की है।

नारी-समस्या के अनेक प्रश्न हैं। वर्तमान शिक्षा की लहर में स्त्री को कहाँ तक बहना चाहिए ? क्या केवल उसे पुरानी रूढियों में ही पड़कर अपना जीवन-यापन करने का अधिकार है अथवा अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के आधार पर उसे अपना व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर देना चाहिए ? स्त्री की सबसे अमूल्य वस्तु क्या है ? उसका चरित्र, उसकी शारीरिक पवित्रता अथवा मानसिक विकास ? पाप किस व्यवहार का नाम है और उसे पुण्य में परिवर्तन करने का कोई उपाय और अधिकार उसे है या नहीं ? स्त्री के प्रेम का स्वरूप क्या है ? सेवा अथवा आत्म-समर्पण—अपने प्रेमी के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को तल्लीन कर देना ? क्या स्त्री अपने माता पिता के दुराचारों के लिए भी उत्तरदायी है ? क्या उनके पापों का प्रायश्चित्त भी उसी के लिए आवश्यक है ? क्या स्त्री सब अवस्थाओं में अपने

पिता या पति की आज्ञा के ही अधीन है? निजत्व के विकास का उसे कोई अवसर नहीं मिलना चाहिए? मिश्र जी की नायिकायें—आशादेवी, चम्पा और चन्द्रकला तथा मनोरमा—इन्हीं समस्याओं में जन्मी और विकसित हुई हैं। लेखक ने अनेक स्थलों पर उनसे तर्क वितर्क करवाया है। उनके हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व कुछ स्थलों पर बड़ा उज्ज्वल हो उठा है। कभी कभी उनकी समस्याओं ने 'व्यक्ति' और 'समाज' में संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। सब का अवसान हुआ है व्यक्ति की विजय में और समाज की पराजय में। इस परिणाम के उद्‌घाटन में मिश्र जी की निश्चित शैली है घटनाओं का विस्तार वह इस प्रकार करते हैं कि स्त्री के भीतर जो कुछ भी है—इच्छा, द्वेष, ईर्ष्या, प्रेम, वासना, त्याग, विवशता—और जिसके ऊपर बाह्य आचार और शील का आवरण चढ़ा हुआ है वह अन्त में प्रगट हो जाता है। नारी अपने अवांछित कर्मों को ढकने के लिए जिन कर्मों द्वारा अपनी आत्म-शक्ति का ह्रास करती जाती है उनका स्पष्टीकरण ही अन्त में उसे संसार का सामना करने का साहस प्रदान करता है। उसका झुका हुआ सिर संसार के सामने उठता है। वही उसका व्यक्तित्व है जो जागृत हो कर उसे आत्म-संतोष देता है और समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होता है। उसके संस्कारों पर बुद्धिवाद की विजय होती है। लेखक के मतानुसार यह रूढिवाद के प्रति प्रतिक्रिया है। और इसके प्रसार में ही हमारे समाज का कल्याण है। उसी में भारत की भावी उन्नति का वीज वर्तमान है।

प्रसाद ने भी आत्म-संतोष की शाश्वत सुन्दरता का रूप अंकित किया है। मिश्र जी इस दृष्टि से उनकी विधारधारा के अनुयायी हैं परन्तु दोनों के साधनों में भेद है। प्रसाद के पात्रों का आत्म-सन्तोष कर्तव्य के पालन में है। उनकी नींव धार्मिक संस्कारों पर स्थित है। अपने अन्दर की पशुता को हटाकर जब मनुष्य मनुष्यता के दर्शन

करता है तो अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होता है। इस प्रायश्चित्त में ही उसे आत्म-सन्तोष की प्राप्ति होती है। परन्तु मिश्र जी के पात्र धार्मिक-संस्कारों में रूढिवादिता का दर्शन करते हैं और बुद्धिवाद का अवलम्ब लेकर विपरीत प्रतिक्रिया द्वारा आत्मसन्तोष के भागी बनते हैं। यद्यपि कहीं कहीं पर लेखक अपनी विचार-धारा में विरोध उत्पन्न कर देता है परन्तु *मुक्ति का रहस्य* और *सिन्दूर की होली* में वह अधिक सफल हुआ है।

सम्भव है कुछ विद्वान मिश्र जी से पूर्णतः सहमत न हों परन्तु नाटक साहित्य में शुद्ध काम-समस्या (Sex Problem) का श्रीगणेश उन्होंने किया है और उनके नाटक शिक्षित समाज के लिए नवीन विचारों की उत्पत्ति करने एवं पुराने संस्कारों में उत्तेजना फूँकने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अपने नाटकों के प्राक्कथन और भूमिकाओं में उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट करने का उद्योग किया है।

मिश्र जी के रंग-संकेतों ने—जो पात्र, स्थल और दृश्य आदि सभी के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से लिखे गए हैं—उनके पात्रों की गति और कार्य-व्यापार को सजीव रूप दे दिया है। इसलिए वह बर्नर्डशा के विशेष कृतज्ञ होने चाहिए। कुछ भी हो हिन्दी के लिए यह नई चीज़ है। पृथ्वीनाथ की *दुविधा* में भी कुछ ऐसी ही नारी-समस्या का समावेश है। उनका *अपराधी* थोड़ा भिन्न स्तर पर है। कानून की दृष्टि से अपराध और अपराधी का क्या स्वरूप है और समाज की नैतिक दृष्टि से उनका क्या स्वरूप है? एवं दोनों में कितना भेद हो गया है? इस नाटक में वही दिखाया गया है। अपराध और अपराधी के सम्बन्ध में अपनी पुरातन धारणा को परिवर्तित करने के लिए लेखक अपने नाटक में अच्छी चुनौती दे रहा है।

गोविंददास जी के नाटकों की समस्यायें राजनीतिक विचारों पर अवलंबित हैं। देश-प्रेम का, देश-सेवा का और देशोन्नति का सब से

उत्तम मार्ग कौन सा है ? जनता की भलाई के लिए कौन सी शासन-प्रणाली सब से अधिक उपयुक्त है ? राजनीतिक जागृति के लिए सब से उत्तम मार्ग कौन सा है ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर उन्होंने अपने नाटकों में दिया है। सेठ जी गाँधीवादी हैं। वह राजनीतिक संग्राम में क्रियात्मक कार्य कर चुके हैं; असहयोग आदि आन्दोलनों का प्रभाव और उनके परिणामों का उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। अपने उसी ज्ञान और अनुभव का समुचित उपयोग उन्होंने किया है। उनके पात्र अपने समय के साथ हैं और जनता की विभिन्न विचार-धाराओं के प्रतिनिधि हैं।

सेठ जी के नाट्य-विधान में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हो पाया है। पहले की अपेक्षा उनका कार्य-व्यापार अधिक सुगठित और धारावाहिक है। उनके संवादों में अधिक शक्ति है और भाषा में ओज।

वृन्दावन लाल का *धीरे धीरे* गाँधीवादी नीति और उसके परिणाम पर अच्छा व्यंग्य है। गत कौंसिल निर्वाचनों के पश्चात् प्रान्तों में अपनी सरकार बनाने पर भी उनकी नीति में और कार्य में जो शिथिलता दिखाई दी थी उसी का चित्रण लेखक ने किया है। अतएव यह नाटक वर्तमान स्थिति के अंश पर प्रकाश डालने का प्रथम प्रयास है। उग्रजी का *डिक्टेटर* भी इसी प्रकार का है।

अश्क का नाटक उस मनोवृत्ति की झाँकी है जो नव-शिक्षित नारी में पाई जाती है और जिसके कारण वह अपने बाहरी रूप-रंग को अधिक सँवार कर घर के सौंदर्य से उदासीन है। कहीं कहीं उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं परन्तु उनकी लेखनी में अपने विचारों को पुष्ट करने की शक्ति है।

प्रेमी के नाटक अपनी ऐतिहासिक परम्परा से विदा ले चुके हैं। उन्होंने व्यक्ति और समाज की समस्याओं को अपना विषय बनाना आरंभ किया है। परन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली है। उनका कथानक तो स्पष्ट है परन्तु समर्थन में प्रौढता की कमी है।

गोविंदवल्लभ का नाटक *अंगूर की बेटी* नाटक नहीं कहला सकता। वह चलचित्र के लिए लिखा गया नाटक है और उसमें उसी का नाट्य-विधान भी है। अतएव उसका समावेश इस प्रसंग में करना उपयुक्त नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से प्रगट है कि समस्या-नाटकों ने अनेक रूप धारण किये हैं परन्तु प्रधान समस्या दो ही हैं—व्यक्ति की समस्या और राजनीतिक आदर्शवाद की समस्या।

सबसे अधिक सफलता इसमें लक्ष्मीनारायण मिश्र और भगवतीप्रसाद वाजपेयी को मिली है। एक बात और भी है। समस्या की प्रधानता के साथ साथ उसके नाटकीकरण में भी एक अन्य विशेषता का श्रीगणेश हुआ जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी के एकांकी नाटकों का जन्म हुआ।

एकांकी नाटक साहित्य और उसके उन्नायक

समय समय पर एकांकियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कुछ एकांकी ऐसे हैं जो पत्र और पत्रिकाओं तक ही सीमित रह गए हैं पुस्तक रूप में उनका प्रकाशन अभी नहीं हुआ। उल्लेखनीय संग्रह इस प्रकार है :—

(१) भुवनेश्वर प्रसाद का *कारवाँ* (१९३५)—इसमें *श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना, एक साम्यहीन साम्यवादी, शैतान, प्रतिमा का विवाह, रोमांस : रोमांच* और *लाटरी* छ एकांकी हैं। इनके अतिरिक्त लेखक के दो अन्य एकांकी नाटक *ऊसर* और *स्ट्राइक* भी प्रसिद्ध हैं।

(२) गणेशप्रसाद द्विवेदी कृत *सोहाग बिंदी* (१९३५)—इसमें *सोहाग बिंदी, वह फेर आई थी, परदे का अपर पार्श्व, शर्मा जी, दूसरा उपाय ही क्या है* और *सर्वस्व समर्पण* छ एकांकी हैं।

(३) राजकुमार वर्मा के तीन संग्रह हैं (१) *पृथ्वीराज की*

आँखें ('३६) जिसमें *चम्पक, एक्ट्रेस, नहीं का रहस्य, बादल की मृत्यु, दस मिनट* और *पृथ्वीराज की आँखें* छ एकांकी हैं। (२) *रेशमी टाई* (१९४१)—इसमें *परीक्षा, रूप की बीमारी, जुलाई की शाम, एक तोला अफ़ीम की क़ीमत* और *रेशमी टाई* ५ एकांकी हैं। (३) चारुमित्रा (१९४२)—इसमें *चारुमित्रा, उत्सर्ग, रजनी की रात* और *अंधकार* चार एकांकी हैं।

(४) सत्येन्द्र का *कुनाल* (१९३७)

(५) द्वारकाप्रसाद का *आदमी* (१९४०)

(६) सद्गुरुशरण अवस्थी का *दो एकांकी* (१९४०)

(७) उदयशंकर भट्ट के (१) *अभिनव एकांकी* (१९४२) जिसमें *दुर्गा, नेता, उन्नीस सौ पैंतीस, वर-निर्वाचन, एक ही क्रम में* और *सेठ लाभचन्द* ६ एकांकी हैं। (२) *स्त्री का हृदय* (१९४२)—इसमें *स्त्री का हृदय, नक़ली और असली, दस हज़ार, बड़े आदमी की मृत्यु, विष की पुड़िया, जवानी* और *मुंशी अनोखेलाल* सात एकांकी हैं।

(८) गोविंददास के (१) *सप्तरश्मि* (१९४१)—जिसमें *धोखेबाज, कंगाल नहीं, वह मरा क्यों, अधिकारलिप्सा, ईद और होली, मानव-मन* तथा *मैत्री* हैं। (२) *पंचभूत* (१९४२)—इसमें *जालौक और भिखारिणी, चन्द्रापीड़ और चर्मकार, शिवाजी का सच्चा रूप, निर्दोष की रक्षा* और *कृष्णा कुमारी* हैं। (३) *दो नाटक* (१९४२)—जिसमें *दलित कुसुम* और *पतित सुमन* हैं। (४) *बनरस* (१९४०)।

(९) प्यारे लाल—*माता की सौगात* (१९४०)।

(१०) उपेन्द्रनाथ अश्क—*देवताओं की छाया में* (१९४०)—इसमें *देवताओं की छाया में, विवाह के दिन, लक्ष्मी का स्वागत, समझौता, अधिकार का रक्षक, पहेली* और *जोंक* सात एकांकी हैं।

इनके अतिरिक्त अश्क के कुछ अन्य एकांकी विभिन्न पत्रों में निकल चुके हैं जिनमें से चरवाहे, *किरण (चिलमन), खिड़की, चुम्बक,*

मैमूना, *चमत्कार* और *सूखी डाली* उल्लेखनीय हैं।

(१०) *हंस का विशेषांक* (एकांकी नाटक) (१९३८)—इसमें अनेक एकांकी हैं और कई लेख एकांकी के विषय और उसके नाट्य विधान से सम्बन्ध रखने वाले भी हैं।

उपरोक्त तालिका के आधार पर वर्तमान एकांकी का समय १९३५—४२ है। इन दिनों में जितने एकांकी लिखे गए हैं उनके विषय अनेक हैं और प्रत्येक के प्रतिपादन की शैली एक सी होती हुई भी अनेक दृष्टि-कोण हमारे सामने रखती है। समस्या-नाटकों की अपेक्षा यहाँ विषयों की संख्या और उनमें समाहृत वस्तु का रूप अनेक प्रकार का है। मनुष्य के जीवन की साधारण से साधारण घटना से लेकर विज्ञान द्वारा किए गए अन्वेषणों और सृष्टि संबंधी अनेक प्रकार की कल्पनाओं का विस्तार हमें इनमें मिलता है। कुछ नाटक आदर्शवादी हैं, कुछ यथार्थवादी और कुछ दोनों का मिश्रण। मिश्रण अधिकतर इसलिए हैं कि लेखक अपनी शक्ति और अपने उद्देश्य को अच्छी तरह पहचान नहीं पाया है। वह समझता है कि छोटा सा कथानक लेकर उसे नाटक-बद्ध कर देना एकांकी-रचना-कला है। उसके नाट्य-विधान में, एकांकी की मूल आवश्यकताओं और प्रभाव की गहराई में वह उतर नहीं पाया है। एकांकी की रचना के मूल कारणों और उसकी साहित्यिक उपयोगिता से वह अनभिज्ञ है। अतएव उसने जो एकांकी नाटक लिखा है वह केवल चलन की दृष्टि से ही। रामकुमार वर्मा का *पृथ्वीराज की आँखें* ऐसा ही एक नाटक है। उनके मस्तिष्क में एक विचार आया है और उन्होंने उसे कविता में न लिखकर संवाद में रख दिया है। पृथ्वीराज की आँखों के सौंदर्य पर व्यंग्य और उनके प्रति गौरी के अत्याचार की छोटी सी कहानी इस एकांकी में है। परन्तु नाटक न तो मनोरंजक ही है और न किसी प्रकार से मन को उद्वेलित करने वाला ही। ठीक है दो मिनट के लिए पृथ्वीराज के शौर्य और

उनकी बेबसी की याद दिला अवश्य देता है। पृथ्वीराज को चुस्त पैजामा पहने हुए दिखाना इतिहास की अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार भुवनेश्वर प्रसाद के स्ट्राइक में कोई मार्के की बात नहीं है। केवल स्ट्राइक शब्द में उन्हें दो भाव दिखाई दिए हैं—मिलवाला स्ट्राइक और घर गृहस्थी के काम काज का बंद होना—इसीलिए उन्होंने दोनों प्रकार की 'रोक' को स्ट्राइक कहकर अपना यह भाव एक छोटे से कथानक द्वारा प्रगट किया है।

एकांकी का उद्गम और नाट्य-विधान

एकांकी नाटक के इतिहास के सम्बन्ध में नगेन्द्र जी का मत है कि "हिन्दी-एकांकी का इतिहास गत दस वर्षों में सिमटा हुआ है...... परन्तु सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से ही हुआ है।"[१] रामनाथ लाल 'सुमन' ने रामकुमार जी के *चारुमित्रा* की भूमिका में उन्हें ही हिन्दी में एकांकी नाटक के जन्म-दाताओं में माना है।[२] *हिन्दी एकांकी* पुस्तक के लेखक श्रीयुत सत्येन्द्र जी का मत इन दोनों से भिन्न है। वह एकांकी की परम्परा को भारतेन्दु तक ले जाते हैं। इन सब में कौन सा मत माननीय है इसके लिए यह निश्चय करना आवश्यक है कि एकांकी कहना किसे चाहिए और उसके नाट्य-विधान में तथा अन्य नाटकों में क्या अन्तर है ?

एकांकी का उद्गम दो प्रकार से माना जा सकता है—संस्कृत से अथवा अंगरेज़ी से। एकांकी में एक अंक होना चाहिए और उसी घटनाओं एवं चरित्र की सम्पूर्णता निहित हो—ये निर्विवाद सिद्धान्त है। दृश्यों की संख्या के विषय [illegible] हीं कहा जा सकता। कलात्मक

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक (सन् १६४२)—पृ० १३१।

२. चारुमित्रा सन् (१६४२)—भूमिका, पृ० ८।

दृष्टि से छोटे और अनेक दृश्यों का होना अच्छा नहीं क्योंकि ऐसा होने से समय, स्थान और कार्य-व्यापार (संकलन-त्रय) का निर्वाह कठिन हो जाता है जो कम से कम एकांकी के लिए अवश्यंभावी है। संस्कृत के अनुसार रूपक और उपरूपकों के कई भेद हैं। इनमें से एक अंक वाले हैं—भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी तथा नाट्य-रासक। प्रत्येक के लक्षण भी पृथक् पृथक् हैं—'भाण' में एक ही अंक होता है परन्तु साथ ही पात्र भी एक होता है। इसके नाट्य-विधान में 'आकाश-भाषित' प्रणाली का प्रयोग होता है। इसका उदाहरण भारतेन्दु का *विषस्य-विषमौषधम्* है। परन्तु आगे चलकर हिन्दी में किसी ने इस प्रकार का एकांकी नहीं लिखा और यह परम्परा जन्म लेने पर ही समाप्त हो गई। 'व्यायोग' में कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। पात्र पुरुष होते हैं और स्त्री पात्र का अभाव रहता है। युद्ध-वर्णन इसकी विशेषता है। भारतेन्दु ने संस्कृत के *धनंजय-विजय* का अनुवाद कर यह हिन्दी में उदाहरण स्वरूप रखा है। अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने *प्रद्युम्न विजय* व्यायोग लिखा परन्तु उसके पश्चात् इसकी परम्परा का भी वही परिणाम हुआ जो भाण का। 'अङ्क' का उदाहरण भी हिन्दी में नहीं है। यही दशा 'वीथी' की भी है। 'गोष्ठी' का शुद्ध उदाहरण भी हिन्दी में नहीं है परन्तु शृंगार की प्रधानता से युक्त अन्य गुण हिन्दी के अनेक एकांकियों में मिल जायेंगे। 'नाट्य-रासक' का भी युक्ति-युक्त उदाहरण हिन्दी में नहीं है परन्तु उससे मिलता-जुलता रूप कमलाकान्त वर्मा के '*सूर्योदय*' में मिलता है। 'रूपक' का एक भेद प्रहसन भी है परन्तु इसमें अङ्कों आदि का कोई निर्देश नहीं है। अतएव यह भी एकांकी हो सकता है। इसके कई उदाहरण हिन्दी में मिलते हैं—*वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति* और *अन्धेर नगरी* आदि।

संस्कृत के अनुसार एकांकी का वर्गीकरण बड़ा संकुचित परन्तु शास्त्रीय है। प्रत्येक में वस्तु, पात्र, रस एवं दृश्य आदि के अनेक बंधन

हैं। उनका मूल कारण है भारतीय रुचि और देश काल। इन सब का परिणाम यह हुआ कि स्वयं संस्कृत ही में एकांकी लिखे तो गए पर बहुत कम संख्या में। अतएव हिन्दी में भी उसका वैसा ही प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने एकांकी की श्रेणी में अधिकतर प्रहसन को अपनाया। राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा 'प्रेमघन' आदि लेखकों से लेकर, देवकी-नन्दन त्रिपाठी तक अधिकतर प्रहसन की ही परम्परा प्राप्त होती है।

अंगरेज़ी के अनुसार एकांकी का क्षेत्र, विषय और नाट्य-विधान दोनों में, अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और व्यापक है, उसके लिए आवश्यक तत्त्व हैं—

(१) विषय की एकता—प्रतिपादित विषय में विषमता नहीं आनी चाहिए; सारी घटनाएँ मूल से सुसंबद्ध हों।

(२) प्रभाव-ऐक्य—सब घटनाओं का प्रभाव एक हो। अलग-अलग घटनाओं द्वारा पृथक्-पृथक् प्रभाव उत्पन्न होने से पाठक और दर्शक का मन क्षुब्ध हो जाता है अतएव ऐसा नहीं होना चाहिए।

(३) वातावरण-ऐक्य—यद्यपि यह तत्त्व वही है जो दूसरा है परन्तु प्रभाव-ऐक्य में परिणाम पर अधिक ज़ोर है और इसमें परिणाम उत्पन्न करने वाले उपकरणों पर।

(४) उपरोक्त समस्त अवयवों का केन्द्रीकरण व्यष्टि या समष्टि रूप से पात्र पर हो। एकांकी में प्रधानता केवल एक पात्र या किसी वर्ग विशेष के चरित्र-चित्रण को ही दी जा सकती है। समस्त पात्रों का समान चरित्र-चित्रण उसमें संभव नहीं है।

नाट्य-विधान की दृष्टि से एकांकी के मुख्य अंग हैं—

(१) उद्घाटन—पर्दा उठते ही दर्शक मंडली का मन लेखक की दुनिया में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। इसके तीन ढंग है—प्रायः

लेखक अपने (१) रंग-संकेतों द्वारा अपना वातावरण बनाता है; (२) अथवा किसी मूक-अभिनय द्वारा दर्शकों को आकर्षित करता है (३) और या फिर कुछ क्षणों के लिए संवाद द्वारा अपने वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ होता है।

(२) टिकाव—उद्घाटन के वातावरण का। इस अवस्था में दर्शक लेखक के उद्देश्य सम्बन्धी प्रत्येक पात्र और घटनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है और परिणाम के लिए उत्सुक रहता है। उसके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं और वह उनका उत्तर पाना चाहता है।

(३) विकास—इस अवस्था में लेखक को अपने कार्य और कारण की एकता की अभिव्यंजना अनिवार्य है। यदि दोनों में तर्कबद्ध सम्बन्ध नहीं है तो दर्शक कभी एकांकी को पसन्द नहीं करेगा।

(४) चरमोत्कर्ष—विकास के पश्चात् यह अवस्था आवश्यक है क्योंकि इसी में वह अपने संघर्ष या द्वन्द्व की समाप्ति का प्रयत्न करता है। इस अवस्था में उसका अपनी दर्शक-मंडली से निकटतम सम्पर्क रहता है और वह उसके उद्देश्य रूपी संकल्प के लिए आतुर होती है। वास्तव में यही वह केन्द्र-बिन्दु है जिस पर आकर कार्य-व्यापार के समस्त सूत्र एकत्रित होते हैं और गूँथ कर एक बनाये जाते हैं और इसके पश्चात्

(५) अन्त—अपनी दर्शक-मंडली को इतनी देर आतुर रखने का प्रसाद लेखक को देना होता है। यह अन्त सम्भव है वैसा तर्क-जन्य न हो जैसा कि 'तर्क' शब्द के अर्थ में प्रचलित है परन्तु यह निश्चय है कि वह अन्त लेखक के तर्क के अनुसार सत्य हो और उन घटनाओं के उद्घाटन एवं विकास के अनुकूल हो जिनका उल्लेख कर लेखक ने अपने दर्शकों की उत्कंठा जाग्रत की थी।

अंगरेजी के अनुसार एकांकी की प्रेरणा विभिन्न रूपों में मिल

सकती है। उसका आधार किसी समस्या का एक मनोरंजक उत्तर हो सकता है (*सबसे बड़ा आदमी कौन है ?*); कोई पात्र भी हो सकता है (सुदर्शन का *राजपूत की हार*); कोई स्थिति विशेष (*लक्ष्मी के स्वागत में*) अथवा विशेष प्रकार का वातावरण आदि (गोविंददास का *धोखेबाज़*)। प्रत्येक प्रेरणा को पात्र, स्थिति एवं वस्तु द्वारा साकार बनाना पड़ता है। उस समय लेखक के सामने यही प्रश्न रहता है कि उसे अभिनय योग्य अधिक से अधिक प्रभावशाली किस प्रकार बनाया जाय।

संस्कृत और अंगरेज़ी दोनों के आवश्यक तत्त्वों का वर्णन संक्षेप से ऊपर हो चुका है। अब प्रश्न यह है कि हिन्दी एकांकी का उद्‌गम कहाँ से मानना चाहिए ? अपने एकांकियों के रूप को देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि हिन्दी में एकांकी का जन्म संस्कृत की परम्पराओं के अनुकरण द्वारा भारतेन्दु से हुआ और अपने विकास की वर्तमान अवस्था में उस पर अंगरेज़ी का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा। यह मत कि हिन्दी एकांकी अंगरेज़ी और पश्चिम की देन है नितान्त भ्रमपूर्ण है।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हिन्दी एकांकी का इतिहास निम्न भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) प्रसाद से पहले अर्थात् (१८६७—१९२९) ई०। इस समय के प्रधान लेखक भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ, प्रतापनारायण मिश्र और काशीनाथ खत्री आदि हैं। इनके नाटकों के विषय इतिहास और समाज-सुधार हैं। *नीलदेवी*, *अमरसिंह राठौर*, *तीन इतिहासिक रूपक*— ये सब ऐतिहासिक आख्यानों पर लिखे गए हैं। समाज-सुधार से संबंधित कई प्रसंगों को भी एकांकी का आधार बनाया गया है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विलाप, व्यभिचार प्रवृत्ति, अंध-भक्तिभाव और कलियुगी सभ्यता का भंडाफोड़ इन एकांकियों के प्रिय विषय हैं।

गो-रक्षा के प्रसङ्ग को लेकर भी एकांकी लिखे गए।

नाटक-विधान की दृष्टि से इन एकांकियों का कोई निर्दिष्ट रूप नहीं है। कुछ केवल एक अंक में ही वर्णित हैं। उनमें दृश्यान्तर नहीं है। ऐसे एकांकियों में समय, स्थान और कार्यगति की एकता है परन्तु उनके संवादों में उच्च कला के दर्शन नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के पास छोटा सा विषय है और उसको छोटे नाटक का रूप देकर उसने प्रस्तुत कर दिया है। अन्य एकांकियों में दृश्य और दृश्यान्तर हैं। इनमें वस्तु का विकास अच्छा है परन्तु संकलन-त्रय का अभाव है।

भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने 'दृश्य' के स्थान पर 'गर्भाङ्क' का प्रयोग किया है; यह विचित्र है क्योंकि 'गर्भाङ्क' का विशेष प्रयोग 'नाटक' में हुआ करता है। सब कुछ देखने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस काल के एकांकी केवल 'सुधारक' के मस्तिष्क की विभूति हैं। बुराई की ओर निर्देश कर देना उनका काम, किसी प्रकार की योजना रखना उनके क्षेत्र से बाहर की बात है। इन लेखकों की प्रणाली यह है कि वे या तो दो विरोधी, सुन्दर और कुरूप चित्रों को चित्रित कर दर्शक के सामने लाकर रख देते हैं और या केवल किसी व्यवहार का बुरा परिणाम मात्र दिखाकर दूसरों को उससे बचने का आदेश देते हैं। *तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण*, *चौपट-चपेट*, *जैसा काम वैसा परिणाम* इसी प्रकार के एकांकी हैं। इनके संबंध में एक बात और जानने योग्य हैं। ये एकांकी अधिकतर प्रहसन के रूप में लिखे गए हैं। परंतु हास्य का इनमें बड़ा अभाव है। कहीं कहीं व्यंग्य के दर्शन अवश्य हो जाते हैं परन्तु 'स्थिति-हास्य' उनमें कहीं नहीं आ पाया। बद्रीनाथ का प्रहसन *चुङ्गी की उम्मेदवारी* (१९१८) एक अपवाद है। विश्वनाथ शर्मा के प्रहसन प्राप्त नहीं हो सके हैं। परन्तु उसके नाम से यदि विषय का अनुमान लगाया जाय

तो पता चलेगा कि उनमें व्यंग्य अधिक है, हास्य कम। आरंभिक अवस्था का यह रूप हिन्दी को प्रहसन और व्यंग्य की श्रेणी के एकांकी देने में समर्थ हुआ।

(२) एकांकी का दूसरा युग प्रसाद जी के 'एक घूँट' (१९२९) से आरंभ होता है और १९३५ तक आता है। फ्रांसीसी मोलियर के कुछ रूपान्तरित प्रहसनों ने एकांकी के इस रूप को उत्तेजना दी परन्तु शिष्ट हास्य का रूप उसके द्वारा भी न बन पाया। सम्भव है इसका कारण वे लेखक हों जिन्होंने इस प्रसङ्ग को हाथ में लिया और या फिर इसका कारण जनता में ही उस हास्य की सुरुचि का अभाव है जो आर्थिक परवशता के कारण उनके जीवन में कभी आ ही नहीं सकती। अस्तु। प्रसाद जी का एकांकी अपने वर्ग का एक ही उदाहरण होकर रह गया। पहली बार एकांकी में किसी गंभीर समस्या पर, एक स्थान में बैठकर, एक ही साथ समय और कार्य-व्यापार की एकता के साथ, विचार किया गया है। इस 'समस्या' की ओर पहले संकेत हो चुका है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रसाद का एकांकी भी अन्य लेखकों को इस ओर बढ़ने की प्रेरणा न दे सका। इसका कारण सम्भवतः देश का वातावरण और रंगमंच का तिरोभाव है।

(३) एकांकी का तीसरा युग भुवनेश्वर प्रसाद के *कारवाँ* (१९३५) से आरम्भ हुआ। अपने संग्रह में उन्होंने कई समस्याओं को हमारे सामने रखा। ये समस्यायें विवाह जैसी संस्था पर भी स्थित हैं और साम्यवाद जैसी राजनीतिक शासन-प्रणाली पर भी। अतएव पश्चिमी विचारधारा के प्रभावाधिक्य के साथ साथ एकांकी के रंगरूप में परिवर्तन हुआ। समस्या-नाटकों की तरह बुद्धिवाद ने एकांकी को भी अछूता नहीं छोड़ा। उनके *शैतान* में स्त्री-पुरुष के कृत्रिम वैवाहिक सम्बन्ध की पोल खोली गई है और स्त्री के मन का उद्‌घाटन किया गया है। 'स्त्री द्वारा राजेन का चुम्बन' भी पश्चिमी धारा का

प्रभाव दिखाता है। फिर बर्नर्डशा के Devil's Disciple का अलक्ष्य प्रभाव तो *शैतान* पर स्पष्ट है ही।

कुछ दिनों तक अङ्गरेजी का यह प्रभाव चलता रहा। रामकुमार वर्मा और गोविंददास के एकांकियों में यह स्पष्ट है। पश्चिम और पूर्व का यह संघर्ष वर्तमान एकांकी का प्रयोगशालीन युग है। हमारे लेखकों ने इस समय में विदेशी विचार और विदेशी प्रणाली को लेकर हिन्दी साहित्य में अच्छी उछल कूद की है। परिपुष्ट होने से पहले अवयवों का परिश्रम आवश्यक भी होता है।

(४) परन्तु अब (१९४१ से) एकांकी का चौथा युग है जिसमें लेखक अपने ही नाट्य-विधान द्वारा एकांकी का नया सुगठित रूप जनता के सामने रख रहे हैं। रामकुमार का *चारुमित्रा* और गोविंददास जी के सामयिक एकांकी तथा उदयशंकर भट्ट का यथार्थवादी संग्रह *स्त्री का हृदय* ऐसे ही एकांकी हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को भी बड़ी सफलता मिली है।

आज एकांकी, नाटक की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय है। इसके कई कारण हैं। जनता अपने मनोरंजन के लिए कार्यव्यस्त होने के कारण समयाभाव में ऐसी कलात्मक रचना चाहती है जो थोड़े समय में उसके मस्तिष्क को पर्याप्त भोजन दे सके। चल-चित्रों और रेडियो आदि के वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस रुचि को और अधिक उत्तेजना देकर उसकी पूर्ति की सामग्री उपस्थित कर दी है। परिणाम यह हुआ है कि पुराना रंगमंच समाप्त हो चुका है और उसके साथ साथ नाटकों की धारा लुप्त प्राय हो रही है।

एकांकी इस रूप में, समय के अधिक अनुकूल हैं। इसके दो रूप और पाये जाते हैं—सवाक् चलचित्रों वाला रूप जिसका प्रकाशन केवल सिनेमा कम्पनियों तक सीमित है और रेडियो पर दिए गए फीचर (Feature) वाला रूप जिसकी परिधि केवल अखिल

भारत-वर्षीय रेडियो और उसकी प्रान्तीय शाखाओं में निहित है।

एकांकी के नवीन प्रयोग

सवाक् चल-चित्रों की कला हमारे युग के मनोरंजन की विशेष सामग्री है। परन्तु उसमें जिस रुचि का प्रदर्शन होता है उसके ऊपर कुछ कहना आवश्यक है। न्यू थियेटर्स, बाम्बे टाकीज और कुछ प्रभात तथा मिनर्वा प्रोडक्शन्स (अब मोदी प्रोडक्शन्स) के चित्रों के अतिरिक्त बाकी सब मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के हैं। कभी कभी *क्वाँरा-बाप* जैसा चित्र नाट्यकला की शोभा बढ़ा देता है अन्यथा सब चित्रों में बड़े बेढंगे रूप में काम-समस्या का ही आधिक्य होता है। अशास्त्रीय संगीत के आधिक्य के कारण ये चित्र शिक्षित समुदाय को बहुत खटकते हैं। अतिरंजितता इनका प्रधान लक्षण है। यदि सरकारी प्रतिरोध इन पर न हुआ तो कुछ दिनों में ये भी पारसी ढंग के ही रंगमंचीय नाटकों के प्रतिनिधि हो जायँगे।

नृत्य प्रधान नाटकों का प्रवेश भी हमारे रंगमंच पर हो गया है। इसके उन्नायकों में उदयशंकर और रामगोपाल विशेष हैं। इनकी देखादेखी अन्य नृत्य मंडलियाँ बन गई हैं। परन्तु प्राचीन नृत्य-परम्परा का जो कलात्मक विकास इनके द्वारा हुआ है वह अन्य किसी के द्वारा नहीं। इस प्रकार के नाट्य-प्रदर्शन में भाव-भंगिमा और शारीरिक मुद्राओं का विशेष प्रयोग होता है। संगीत इन सब का प्राण है। उसी के द्वारा निश्चित वातावरण बनाया जाता है और पात्र का अभिनय आरम्भ होता है। भरत के नाट्यशास्त्र में 'नृत्त' का जो स्थान है उसी का पुनरुद्धार इस रूप में हुआ है। वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों ने इसमें बड़ी सहायता दी है। प्रकाश-रश्मियों का वितरण, अंगों की लय-युक्त गति के साथ अद्भुत दृश्य उपस्थित कर देता है। संसार के कोलाहल से दूर, क्षण भर के लिए, हम एक सुन्दर, शान्त और रसमय

संसार में प्रवेश कर मानसिक एवं आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं। यह आनन्द ब्रह्म सहोदर है।

नाटक की सफलता और उपयोगिता का इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण और क्या हो सकता है ?

प्रसादोत्तर काल में अन्य नाटक-धारायें भी चलती रहीं। अनुवाद भी हुए और रूपान्तर भी। परन्तु यह सब इतना कम था कि उस के विषय में कोई विशेष जानकारी की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार

प्रसादोत्तर काल के नाटक में समस्या-प्रधान नाटकों की प्रधानता है जिनके अनेक रूप साहित्य में मिलते हैं। ऐतिहासिक, प्रेम-प्रधान, पौराणिक आदि अन्य धारायें भी समस्या में इस प्रकार मिल गई हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन कार्य है। देश के वातावरण और चतुर्दिशी ज्ञान-विज्ञान के विकास ने नवीन प्रयोगों को उत्तेजना दी है और हिन्दी लेखकों ने उनका समुचित लाभ उठाया है।

प्रचलित धाराओं के अतिरिक्त भाव-नाट्य और गीति-नाट्य भी हिन्दी में मिलते हैं। यह प्रसाद और उनके बाद के लेखकों की नई देन है।

नाट्य-विधान में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं, विशेष कर एकांकी में। रंगमञ्च का तिरोभाव, सवाक् चल-चित्र का प्रचलन, रेडियो का आविष्कार और प्रत्येक कार्य में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तीव्र समय-गति (Speed) का इस परिवर्तन में बड़ा भाग है। उदयशंकर का 'नृत्य और छाया-नाटक' एवं साम्यवादियों का 'खुला-थियेटर' कुछ ऐसे नये प्रयोग हैं जिनके विषय में भविष्य ही कुछ निर्णय कर सकेगा। जन-साधारण में लोक-रंगमंच के साथ साथ शिक्षित समुदाय में ये प्रयोग अत्यंत शुभ संदेश के वाहक हैं।

परिशिष्ट

रंगमंच

संस्कृत रंगमंच

नाटक और रंगमंच का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि काव्य होते हुए उसका अभिनय के योग्य होना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के अधिकांश नाटक रंगमंच पर सफल होने की दृष्टि से नहीं लिखे गए परन्तु संस्कृत के विषय में ऐसा नहीं है। मूल प्रबन्ध में यह दिखाया जा चुका है कि नाटक की लेखन-कला पर संस्कृत का कितना प्रभाव पड़ा है। अतएव हिंदी के रंगमंच का विकास और उसके वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए संस्कृत रंगमंच का ज्ञान आवश्यक है।

प्रस्तुत विषय की जानकारी के लिए भरत का *नाट्य-शास्त्र* तो अनिवार्य है ही परन्तु भरत के पश्चात् नाट्य-शास्त्र पर लिखने वाले आचार्यों और भरत *नाट्य-शास्त्र* के टीकाकारों ने इस विषय पर अमूल्य प्रकाश डाला है। अभिनवगुप्त और शंबुक इस दृष्टि से बड़े उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण लेखक थे। प्रसिद्ध अंगरेजी विद्वान् कीथ ने अपनी पुस्तक The Sanskrit Drama में रंगमंच सम्बन्धी कुछ विषयों पर भ्रमपूर्ण सम्मति प्रकाशित की है। वह भारतीय कला और सिद्धान्त की चिंताधारा में गहरा प्रवेश करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

साथ के मान-चित्र से संस्कृत रंगमंच का पूर्ण चित्र हृदयंगम हो सकेगा। वैसे तो भरत ने तीन प्रकार के नाट्य-गृहों का वर्णन किया है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। इन तीनों प्रकार के नाट्य-गृहों में प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ नाम से तीन तीन भेद हैं। प्रत्येक नाट्यगृह की पृथक् उपयोगिता का उल्लेख भरत ने अपने ग्रंथ में किया है।

इस सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त का मत यह है कि 'समविकार नाटक के समान और जो नाटक हो, जिनमें सुर असुरों की लड़ाइयाँ और कलह आदि दिखाने हों उन नाटकों के लिए ज्येष्ठ नाट्यगृह का उपयोग करना चाहिये। मध्य नाट्यगृहों का प्रयोग उन रूपकों के लिए करना चाहिए जिनमें लड़ाइयाँ आदि विशेष रूप से न हों। और जहाँ एक ही पात्र का अभिनय हो वहाँ कनिष्ठ नाट्य-गृह का प्रयोग करना चाहिए।*

तीनों नाट्य-गृहों की लंबाई और चौड़ाई आदि सब का विवरण नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत है। साथ का मान-चित्र मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह का है क्योंकि यही सब से अधिक काम में आता था और इसी का सीधा सम्बन्ध हिन्दी रंगमंच से है।

मान-चित्र से प्रगट होता है कि नाट्यगृह के दो सम-भाग कर दिये जाते थे जिनमें से एक भाग अभिनय के काम में आता था और दूसरे में ६, ५, २१, २२ क्षेत्र को छोड़कर शेष दर्शकमंडली के काम में आता था। इसी अंश में पूर्वाभिमुख एक द्वार मंडली के प्रवेश और प्रस्थान के लिए होता था। भरत के अनुसार ६, ५, ३, ४ क्षेत्र में डेढ़ हाथ का ढाल रहता था जिससे पीछे बैठने वाली जनता को अभिनय देखने में असुविधा न हो।

दूसरे अंश में से आधा भाग नेपथ्य के लिए निश्चित था (क्षेत्र १, २, ७, ८)। शेष में आधे में दो भाग और होते हैं—क्षेत्र ८, ७, ९, १० तथा क्षेत्र ९, ५, ६, १०। इनमें प्रथम भाग तीन अंशों में विभाजित किया जाता था; बीच में रंग-शीर्ष और उसके इधर उधर एक-एक कक्ष। प्रत्येक की लंबाई चौड़ाई मानचित्र में दे दी गई है। इसी प्रकार दूसरा भाग भी तीन अंशों में विभक्त रहता था। बीच में रंग-पीठ तथा उसके इधर उधर एक-एक कक्ष। नेपथ्य और रंगशीर्ष

* अभिनव गुप्त—नाट्यवेद विवृति, २—१२ टी०

को विभाजित करने वाली एक स्थायी दीवार (७, ८) हुआ करती थी। इस भीत पर अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र चित्रित रहते थे जो रंगशीर्ष पर अभिनीत होने वाले दृश्यों की पृष्ठ-भूमि का कार्य करते थे। रंग-शीर्ष वाले कक्षों में नेपथ्य से आने के दो द्वार रहते थे जिनमें हो कर पात्र आया जाया करते थे। कक्ष और रंगशीर्ष के बीच में प्रत्येक दिशा की ओर तीन-तीन स्तंभ रहते थे (१२, २०, १४ तथा ११, १९, १३)। इस प्रकार यह कक्ष मूल रंग-शीर्ष से अलग हो जाते थे और आजकल की (Wings) का काम देते थे। कक्षों से रंगशीर्ष पर आने के लिए एक एक द्वार रहता था।

रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच में एक पर्दा रहता था (९, १०)। यह अस्थायी था और उठाया जा सकता था परन्तु इस पर्दे के संभवतः तीन भाग रहते थे। कक्ष का पर्दा पड़ा रहता था और रंगपीठ का भाग उठता गिरता रहता था। रंगपीठ के प्रत्येक कक्ष के ऊपर मत्तवारिणी बनी रहती थी। यह एक प्रकार की वर्तमान Gallery होती थी जिसका आकार हाथी की अंबारी के समान होता था और जिसका भार १५, ६, ५, १७ तथा १६, १०, ६, १८ इन आठ स्तंभों पर रहता था। मत्तवारिणी के नीचे का स्थान कक्ष या Wings के काम में आता था। ये मत्तवारिणी आकाश मार्ग में दिखाये जाने वाले दृश्यों के प्रयोग में आती थीं अथवा किसी ऐसे दृश्य में दिखाई जाती थीं जिनका उपयोग राजसभा आदि में हो सके। मत्तवारिणी के स्तंभों आदि पर सुन्दर चित्रकारी रहती थी। रंगपीठ के आगे भी एक पर्दा रहता था जो वर्तमान Drop के काम में आता था।

रंगशीर्ष थोड़ा सा रंगपीठ की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर रहता था और रंग-पीठ पर आने के लिए वहाँ से उतरना पड़ता था। नेपथ्य रंगशीर्ष से थोड़ा नीचा रहता था। संस्कृत नाटकों के 'रंगावतरण' और स्वयं रंगशीर्ष एवं रंग-पीठ जैसे सापेक्षित शब्द इसके प्रमाण हैं।

पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का प्रश्न द्वारों और कक्षों से स्पष्ट हो जाता है। नेपथ्य का उपयोग वेष-भूषा आदि अन्य कार्यों में हुआ करता था।

रह गई पर्दों की बात। प्रायः यह मत है कि संस्कृत के रंग-मंच पर केवल एक या दो ही पर्दे हुआ करते थे। ऐसा नहीं है। रंग-शीर्ष और रंगपीठ के कक्षों की स्थापना इसका प्रमाण है कि पर्दों की संख्या नाटक के अनुकूल हुआ करती थी और इस कला में भारत-वासियों ने बड़ी उन्नति की थी। पर्दों के लिए एक पृथक् अधिकारी रहता था जिसे 'चित्रज्ञ' कहते थे। नाटक के अनुसार पर्दों को चित्रित करना उसका काम था।

अभिनय में संगीत की भी आवश्यकता होती थी। संगीतज्ञों के बैठने का स्थान रंगशीर्ष के कक्ष-द्वारों के निकट होता था। आज-कल भी पर्दे के अन्दर ही संगीत का प्रबन्ध उपयुक्त समझा जाता है।

इसी प्रसंग में कदाचित् यह बताना अवांछित न होगा कि भरत ने नाट्यशाला के कार्यकर्ताओं का एक सुन्दर विभाजन इस प्रकार किया है:—(नाट्यशास्त्र ३५वाँ अध्याय)

१. भरत—नाट्य-संस्था का आधारभूत संचालक।

२. सूत्रधार—आधुनिक निर्देशक।

३. नट—रिहर्सल का अधिपति।

४. तौरिय—संगीत का अधिपति।

५. वेषकर—वर्तमान Dresser।

६. मुकुटकृत—सिर पर पहनने के सब प्रकार के मुकुट आदि बनाने वाला।

७. आभरणकृत—सब प्रकार के नाटकोपयोगी आभरण आदि बनाने वाला।

८. माल्यकृत—सब प्रकार की नाटकोपयोगी मालायें बनानेवाला।

९. चित्रज्ञ—परदे आदि चित्रित करने वाला।

१०. रजक—धोबी और रंगरेज़ दोनों का काम करने वाला।

अतएव हम देखते हैं कि अपनी विकसित अवस्था में संस्कृत का रंगमंच कितना उन्नत था और उसमें वर्तमान समय की प्रायः सभी विशेषतायें और सुविधायें प्राप्त थीं।

मान-चित्र की व्याख्या

क्षेत्र १, २, ३, ४=नाट्यगृह

क्षेत्र १, २, ५, ६=नाट्यगृह का अर्ध भाग, जो अभिनय के काम में आता था।

क्षेत्र १, २, ७, ८=नेपथ्य, जो नाट्यगृह का $\frac{1}{4}$ भाग होता था।

क्षेत्र ८, ७, ९, १० तीन भागों में विभाजित होता था।

क्षेत्र ११, १२, १३, १४ रंग-शीर्ष होता था।

क्षेत्र ८, १४, १२, १० }
क्षेत्र १३, ७, ९, ११ } दो कक्ष होते थे।

क्षेत्र १५, १६, १८, १७ रंग-पीठ होता था।

क्षेत्र १०, १६, १८, ६ }
क्षेत्र १५, ९, ५, १७ } दो कक्ष होते थे।

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२ स्तम्भ होते थे।

क्षेत्र १०, १६, १८, ६ }
क्षेत्र, १५, ९, ५, १७ } इनके ऊपर मत्तवारिणी बनी होती थीं।

क्षेत्र ६, ५, २१, २२=रंगभूमि के सामने का खुला भाग।

क्षेत्र २२, २१, ३, ४=प्रेक्षागृह

पारसी रंगमंच

पारसी रंगमंच कोई स्थायी रंगमंच नहीं है। इसका श्रीगणेश धनोपार्जन के लिए व्यावसायिक रूप में हुआ था। जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है सब से पहली पारसी कम्पनी सन् १८७० वर्तमान थी। यह कम्पनी और इसके साथ की अन्य कम्पनियाँ देश के प्रान्तों में भ्रमण करती रहती थीं और उनका रंगमंच भी उन्हीं के साथ यात्रा करता था।

साधारणतया पारसी रंगमंच एक चतुर्भुज क्षेत्र होता है। जिसकी लंबाई और चौड़ाई कम्पनी के पर्दों पर अवलंबित होती है। यह चारों ओर से ढका हुआ रहता है। संस्कृत के रंगशीर्ष और रंगपीठ जैसा विभाजन इसमें नहीं होता। हाँ, दोनों ओर कक्ष (Wings) अवश्य रहते हैं। सारा ढाँचा बल्लियों और बाँसों से बनाया जाता है जिन्हें सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। पर्दे एक के पीछे एक लगे रहते हैं और घिर्री के आधार पर कक्षों में से ऊपर उठाये और नीचे डाले जाते हैं। पर्दों का क्रम नाटक के दृश्यों के अनुकूल प्रस्थान और प्रवेश को दृष्टि में रख कर किया जाता है। सब से आगे बाह्यपटी (Drop Scene) रहती है और उसके दोनों ओर ढके हुए दोनों कक्ष। इस बाह्य दृश्य का प्रयोग प्रायः कम्पनियाँ अपने विज्ञापन के लिए करती हैं। संगीत का प्रबन्ध रंगमंच के आगे प्रेक्षागृह में होता है। इस सीमा के पश्चात् प्रेक्षागृह आरम्भ हो जाता है। प्रेक्षागृह में भी उतार चढ़ाव रहता है जिससे सब से पीछे बैठने वाले भी सुगमता से अभिनय देख सकें।

नेपथ्य अन्तिम पर्दे के पीछे होता है और वैसे कक्ष से नेपथ्य का काम लिया जाता है। आकाशमार्ग से आने जाने वाली वस्तुओं और मनुष्यों को दिखाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता

है। अदृश्य डोरी द्वारा उनकी गति का भान कराया जाता है।

अधिक से अधिक चमत्कार दिखाने के लिए रंगमंच पर आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग होता है। इस रंगमंच का निर्माण करने की अपेक्षा उस पर अभिनीत होने वाले नाटक की अभिनय-सामग्री पर पर्याप्त धन व्यय किया जाता है जिससे नाटक की सजीवता और प्रभाव में कोई न्यूनता न रहने पावे।

पारसी रंगमंच इसका प्रमाण है कि रंगमंच का निर्माण नाटक की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त होता है न कि यह कि नाटक रंगमंच की पूर्ति के अनुसार हो। हाँ दोनों में कुछ स्थायी तत्त्व सदैव वर्तमान रहते हैं।

पारसी रंगमंच सदैव अस्थायी रहा है। कुछ दिनों से मदन थियेटर्स ने एक स्थायी रंगमंच कलकत्ता में बनवा लिया है।

पारसी रंगमंच का प्रभाव ही हिन्दी रंगमंच पर पड़ा है और उसी की अनुकृति हमें अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों के रंगमंच में दिखाई देती है।

संभव था यह रंगमंच स्थायी रूप धारण करते परन्तु सिनेमा की वृद्धि ने और जीवन की अन्य परिस्थितियों ने अभी तक इसे स्थायी नहीं होने। दिया यद्यपि यह आश्चर्य की ही बात है क्योंकि अन्य प्रदेशों में सिनेमा-मंच के साथ ही साथ नाटक-रंगमंच भी काफी लोक-प्रिय हैं।

जन रंगमंच

इसका स्वरूप भिन्न भिन्न स्थानों में वहाँ की आवश्यकताओं के अनुकूल होता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और उसके पूर्वीय भाग में होने वाली रामलीला में बड़ा अन्तर रहता है। देहरादून में रामलीला जिस प्रकार होती है वही विस्तार कानपुर में नहीं

होता। जिन पुस्तकों के आधार पर यह लीलायें की जाती हैं वे भी भिन्न भिन्न हैं। इसका कारण यही है कि राम-लीला में केवल संवाद ही नहीं होते। उनमें निर्देशक के सक्रिय भाग की आवश्यकता पड़ती है। बात यह भी है कि राम-लीला किसी एक ही स्थान में एक दिन या एक रात्रि में समाप्त नहीं हो जाती। उसके सम्पूर्ण होने में १० या १५ दिन तक लगते हैं।

कुछ स्थानों पर यह नियम है कि वनवास से पहले की लीला नगर में नाटक के ढंग पर होती है और बाद की लीलायें खुले और विस्तृत मैदानों में की जाती हैं। ऐसे स्थानों पर थोड़ा सा रंगमंचीय प्रदर्शन भी रहता है परन्तु अधिकांश में पात्र आदि एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूम कर अपनी क्रियाओं का दिग्दर्शन कराते हैं और उनके साथ में रहने वाले निर्देशक महाशय बैठी हुई उत्सुक जनता को स्थिति का ज्ञान कराते रहते हैं।

रासलीला का सब से अच्छा प्रदर्शन मथुरा में होता है। बाहर जाने वाली रासधारी मंडलियाँ साधारण रंगमंच पर ही अपना अभिनय दिखाती हैं।

सांगीत

सांगीत में एक तख्तों का ऊँचा मंच बनाकर उसके चारों ओर बाँसों से एक घेरा बना लिया जाता है। सब से आगे एक या दो पर्दे भी कभी-कभी डाल दिये जाते हैं। अन्यथा पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान, संवाद, गाना, नाचना, सब रंगमंच पर दर्शकों के सामने खुले में होता है और दर्शक-मंडली इस मंच के तीन ओर बैठ जाती है।

जन-रंगमंच के यही रूप हैं।